सत्साहित्य-प्रकाशन

जीवन-क्रांति की दिशा

•

आचार्य रजनीशजी के साथ
चर्चाओं के आधार पर
लिखित विचार-प्रेरक लेख

•

•

लेखक
(डा०) गोविन्ददास

•

१९६६
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

'शांति की खोज' पुस्तकमाला : १



प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,

नई दिल्ली



पहली बार

१९६६

मूल्य

दो रुपये



मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस,

किंग्सवे, दिल्ली ९

जगमोहनदास का

जिसकी स्मृति ही अब शेष रह गई है

प्रकाशकीय

हिन्दी के पाठक आचार्य रजनीशजी के नाम से अवश्य परिचित होगे। वह वर्तमान समय के प्रमुख चिन्तको मे से है। उनके विचार मौलिक तथा प्रेरणादायक है। उनकी विवेचन-शैली सुबोध है। वह अपनी बात इस ढंग से कहते है कि सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी सहज ही समझ लेता है।

रजनीशजी की कई पुस्तकें हिन्दी मे प्रकाशित हुई हैं और उनके विचारो को सभी वर्गों के पाठको ने पसद किया है।

पिछले दिनो हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक सेठ गोविन्ददासजी ने विभिन्न विषयो पर रजनीशजी से चर्चाएं की थी। उनमे से कुछ चुनी हुई चर्चाओ को लिपिबद्ध करके सेठजी ने इस पुस्तक मे संग्रहीत किया है। कहने की आवश्यकता नही कि ये सभी चर्चाएं जीवन-विकास के लिए उत्सुक पाठको को सुपाठ्य सामग्री ही प्रदान नही करती, उन्हे सोचने के लिए विवश भी करती है।

हमे यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि इस पुस्तक के साथ हम एक नई पुस्तक-माला का श्रीगणेश कर रहे है। आज के युग के अन्य प्रमुख चिंतको की चर्चाए भी पाठकों को आगे की पुस्तको मे पढ़ने को मिलेंगी।

इस माला को आरंभ करने की प्रेरणा हमें सेठ गोविन्ददासजी से प्राप्त हुई है। हम उनके आभारी है।

हमे आशा ही नही, बल्कि विश्वास है कि इस तथा इस माला मे आगे प्रकाशित होनेवाली पुस्तको को पाठक चाव से पढ़ेंगे।

—मंत्री

भूमिका

विचार विचार हैं। वे मेरे या तेरे नही है। लेकिन, मनुष्य की अस्मिता की लीला बडी है। वह तो स्वय के केन्द्र पर ही सवकुछ बाध लेती है। ऐसे ही तो उसका पोषण होता है, अन्यथा वह क्या है और कहा है ? अहकार से असत्य और असत्य ही क्या है ? शायद, इसीलिए वह सदा ही किसी-न-किसी वहाने स्वय को भरने मे लगा रहता है। धन से, पद से, ज्ञान से, त्याग से—सभीसे स्वय की छाया-सत्ता को वास्तविक वनाने की उसकी दौड चलती है। उसका भोजन है 'मेरा'। 'मैं' का प्राण है 'मेरा'। फिर चाहे वह मेरा धन हो, चाहे मेरा त्याग, चाहे मेरा देश, मेरा धर्म या मेरा विचार। 'मेरा' जवतक है, तवतक 'मैं' है। जहा 'मेरा' नही, वहा 'मैं' भी नही। और तव जो शेष रह जाता है, वही वस्तुत है। कहे कि वही परमात्मा है।

डॉ० गोविन्ददासजी ने इन विचारो को सग्रहीत किया है। निश्चय ही इनका प्रादुर्भाव उन काल-खडो मे हुआ, जव वह मेरे निकट होते थे। वहुत-सी वातें होती थी। उनमे से ही कुछको प्रारभ-विन्दु मानकर उन्होने फूलो की यह माला वनाली हे। रही मेरी वात सो मै तो इस माला को देख उन मूल फूलो को पहचानने मे भी असमर्थ हू। मालाकार ने वहुत-कुछ जोडा-घटाया है। वे विचार न तो तव ही मेरे थे, जव उनपर वातें हुई थी। क्योकि जव नही जानता था तो वही सार्थक था, जो 'मेरा' था और अव जवकि जानता हू तो पाता हू कि सत्य तो वस वही है जो 'मेरा-तेरा' नही है। और न ही वे विचार अव वैसे ही है, जैसे कि जन्मे थे, क्योंकि उन्होने इस वीच वहुत यात्रा करली है। स्वभावत. इस यात्रा

में वे कुछ-से-कुछ हो गये हैं। मैं तो नही चाहता था कि उनके सदर्भ में मेरा कोई भी उल्लेख हो, लेकिन डॉ० गोविन्ददासजी का अत्यधिक सुसस्कृत मन मुझे बिना बीच मे लाये नही मान सका है। इसलिए अब तो अपनी स्थिति निवेदन किये बिना कोई मार्ग ही नही है। मैं स्वय को खोजते-खोजते 'मैं' को ही खो बैठा हूं। कबीर ने कहा है न 'हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई'। इसलिए कहना चाहता हू कि अब मेरा कुछ भी नही है, क्योकि मै ही नही हूं।

—(आचार्य) रजनीश

दो शब्द

मेरे कनिष्ठ पुत्र जगमोहनदास का सन् १९६३ की १६ जुलाई को एकाएक दिल की धडकन रुकने के कारण देहावसान हो गया। १६ जुलाई को उनका जन्म-दिन भी था और वह अपने ब्यालीसवे वर्ष मे प्रवेश कर रहे थे। इस अचानक और अप्रत्याशित दैवी आघात से मैं बहुत ही तिलमिला उठा। पुत्र-शोक सबसे महान् शोक होता ही है, वह तो हुआ ही, पर उससे यह शोक कही अधिक बडा था। इसके दो कारण थे। पहला यह कि मेरा सार्वजनिक सेवा मे ही सारा जीवन बीता है। उसके लिए जगमोहनदास तैयार हुए थे। यद्यपि हर व्यक्ति का जीवन उसके गुण-दोषो पर ही बनता और चलता है तथापि कभी-कभी अन्य व्यक्ति भी उस जीवन के निर्माण मे एक निमित्त हो जाता है, मै उनके निर्माण मे एक निमित्त रहा था। जगमोहनदास के व्यक्तित्व मे कुछ ऐसे गुणो का समावेश हो गया था, जो बहुत कम व्यक्तियो मे होता है। सौन्दर्य छोटी चीज नही है, अन्यथा राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के सौन्दर्य के इतने वर्णन न मिलते। जगमोहनदास को भगवान ने साधारण रूप से नही, असाधारण रूप से सुन्दर बनाया था। साथ ही, जितना सौन्दर्य उन्हे मिला था, वैसी ही प्रखर बुद्धि भी। उन्होने अपनी इटर, बी० ए०, एल-एल० बी० की सारी परीक्षाए प्रथम श्रेणी मे पास की थी। फिर उनका विभिन्न विषयो पर गहरा अध्ययन था। उनकी सुलझी हुई बुद्धि ने इस अध्ययन पर चार चाद लगा दिये थे। हिन्दी और अग्रेजी दोनो भाषाओ पर उनका अधिकार था और वह हमारे प्रदेश के अच्छे-से-अच्छे वक्ताओ मे माने जाते थे। उनका चरित्र एकदम निष्कलक था। मृदुता की तो मूर्ति ही थे। उनके व्यवहार और व्यक्तिगत सहायताओ ने, जो उनके जीवन का मूल-मत्र हो गया था, तरुणाई मे ही उन्हे जबलपुर और हमारे प्रदेश मे अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था। पुराने और नये मध्य-प्रदेश मे वे नौ वर्ष तक बड़े सफल उपमत्री और मत्री रहे थे।

दूसरा कारण उस महान शोक का यह था कि हम दोनो के बीच ऐसा स्नेह था, जो पिता-पुत्र के बीच क्वचित ही देखने को मिलता है। पिता तो पुत्र पर स्नेह रखते ही है, परतु किसी पुत्र का पिता पर भी वैसा ही स्नेह हो, यह दुर्लभ होता है। सार्वजनिक जीवन मे मैने देश को स्वतत्र करने वाली राजनीति मे सन् १९२० से ही भाग लिया था। अपने प्रदेश के सारे स्वातन्त्र्य युद्धो का मैने नेतृत्व किया था। साहित्य-क्षेत्र मे भी मेरा काम था और समाज-सुधार के क्षेत्र मे भी। फिर ऐसे पुत्र को पाकर मै अपने जीवन को कृतकृत्य मानता था और प्राय कहा करता था कि भगवान ने मुझे इतना सुखी बनाया है कि मै सारे ससार को सुख बाट सकता हू। वृद्धावस्था तक भी मेरे हृदय में स्फूर्ति की एक सरिता बहती थी, जिसमे उल्लास की उर्मिया उठा करती थी। इस सरिता का सगम उमग के उदधि से हुआ था। जगमोहनदास के निधन ने उस सरिता और सिंधु दोनो को सुखा दिया और जीवन ऐसा मरुस्थल हो गया, जिसमे हरियाली ही नही, ... गोचर नही होता।

फिर तो जिस विषय पर चर्चा होती, उस पर कुछ नोट लिखे जाते और तदुपरात मैं उसपर एक लेख लिख डालता।

यह सग्रह उन्ही लेखो का सकलन है।

इस सकलन मे मुझे सर्वाधिक सहायता मिली है मेरे निजी सचिव श्री गोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव से।

इस सकलन से मुझे तो थोडी शाति मिली ही है। यदि यह सकलन देश के इस नव-निर्माण मे आध्यात्मिक प्रवृत्ति का जागरण करेगा तो मैं अपने को धन्य मानूगा।

इस सकलन के अधिकाश लेख देश के हिन्दी के प्रतिष्ठित पत्रो मे प्रकाशित हो चुके है और उन पर मुझे विभिन्न स्थानो से अनेक पत्र भी प्राप्त हुए हैं।

३३, फीरोजशाह रोड,
नई दिल्ली

—(डॉ०) गोविन्ददास

विषय-सूची



जीवन-क्रांति
की
दिशा

१

सभ्यता और संस्कृति

समस्त सृष्टि को मोटे रूप से दो विभागो मे विभक्त किया जा सकता है, जड और चेतन। दार्शनिको और तत्त्ववेत्ताओ ने माना है कि चेतन से जड की उत्पत्ति हुई है। आधुनिक वैज्ञानिक मानते है कि जड पदार्थों के सम्मिश्रण से चेतन उत्पन्न हो जाता है। जो हो, चेतन रचना मे मानव सबसे श्रेष्ठ रचना है, इसमे दो मत नही हो सकते। इसका प्रधान कारण यह है कि ईश्वर ने जो ज्ञान-शक्ति मनुष्य को दी है, वह अन्य किसी प्राणी को नही। यजुर्वेद मे मनुष्य को 'अमृतस्य पुत्रा.' कहा है। मानव ने इस ज्ञान-शक्ति से मानसिक स्तर पर जो कुछ उपार्जित किया है, वह सस्कृति के भीतर आ जाता है। सस्कृति के सम्बन्ध मे 'छान्दोग्य' उपनिषद मे कहा गया है

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिक-सम्बन्धेषु वा मानवीय-त्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शाना समष्टिरेव सस्कृति.। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योत्कर्ष. पर्यव-स्यति। तथैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षापकर्षा मीयेते। किं बहुना, सस्कृतिरेव वस्तुत. सेतुर्विधृतिरेषा लोकानामसम्भेदाय इत्येव वर्ण-यितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषा धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वय. सस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।"

अर्थात्—किसी देश अथवा समाज के भिन्न-भिन्न जीवन-व्यापारो मे या सामाजिक सबधो मे मानवता की दृष्टि से जो आदर्श प्रेरणा प्रदान करते है, उनकी समष्टि ही सस्कृति है। सामाजिक जीवन के समस्त क्षेत्रो का समावेश सस्कृति मे होता है। भिन्न-भिन्न सभ्यताओ के उत्थान एव पतन के नाप के लिए सस्कृति ही मानदण्ड है। सक्षेप मे, सस्कृति के द्वारा ही मानवो का संगठन होता है।

'संस्कृति' शब्द संस्कार शब्द से भी सम्बन्धित है। संस्कार का कार्य परिष्कृत करना है।

अंग्रेजी में 'संस्कृति' के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'कल्चर' शब्द की जो व्याख्या की गई है, उसका अर्थ यह है :

"मन की अभिरुचियों और मन के आचरण का प्रशिक्षण तथा परिष्कार एवं वह स्थिति, जिसमें मन की अभिरुचियाँ और मन का आचरण प्रशिक्षित और परिष्कृत हो जाते हैं; सभ्यता का बौद्धिक पक्ष; संसार में जो कुछ सर्वोत्तम जाना और कहा गया है, उससे परिचय।"

सभ्यता और संस्कृति एक नहीं हैं। अनेक बार दोनों को पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो बड़ी भारी भूल है। निसर्ग ने हमें जो कुछ दिया है, उसका उपयोग कर मनुष्य ने जो आधिभौतिक प्रगति की है, वह सभ्यता (सिविलाइजेशन) है तथा मानसिक शक्ति से मनुष्य जो सर्जन करता है, वह संस्कृति (कल्चर) है। ऊपर कहा गया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है। यह शक्ति भौतिकता से अलग है। इस शक्ति के कारण मनुष्य विचार करता है, चिन्तन करता है, मनन करता है और विचार, चिन्तन एवं मनन में जो रचना होती है, वह दो तरह की है। मानव के आधिभौतिक सृजन सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं, और मानसिक स्तर के सृजन, जिनसे उसे प्रेरणा मिलती है, वे संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृति का संबंध मनुष्य के अन्तरंग से है, सभ्यता का बहिरंग से। संस्कृति आत्मा है और सभ्यता शरीर, संस्कृति आध्यात्मिक स्तर है और सभ्यता आधिभौतिक।

भ्रान्त दशा मे सत्य को खोजने लगते हैं। उनके सब प्रयास आकाक्षाओ के विपरीत परिणाम लाते हैं और उनकी शुभ आकाक्षाओ से अन्तत अशुभ ही फलित होता है। सस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध मे ऐसा ही हुआ है। सभ्यता जिस सत्य की परिधि है, सस्कृति उसका केन्द्र है। प्रवाह सभ्यता से सस्कृति की ओर नहीं, वरन् सस्कृति की ओर से सभ्यता की ओर जाना चाहिए। परन्तु आज व्यष्टि और समष्टि के जीवन मे जो हो रहा है, उससे गगा गगोत्री से निकल गगासागर की ओर न जाकर गगासागर से गगोत्री की ओर बह रही है। सभ्यता सधेगी ता सस्कृति सध जायगी, यह कभी नही होगा। यह तो वैसी ही धारणा है कि शरीर होगा तो आत्मा आ जायगी। परन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न होने की सम्भावना है, क्योकि यदि ऐसा हो सकता तब तो मृत्यु ही असम्भव हो जाती। मरने के बाद भी शरीर तो रहता ही है, परन्तु आत्मा अनुपस्थित हो जाती है।

सभ्यता आचार है, सस्कृति अन्तस। जो भी आचार से प्रकट होता है, वह यदि अभिनय नही है, पाखण्ड नही है, तो उसका प्रारम्भ और सूत्रपात अन्तस मे होना चाहिए। अन्तस से विकसित होकर जो आचार मे आता है, वही सत्य और सम्यक् है। इसके विपरीत जो चेष्टा है, उसके परिणाम मे अन्तस तो परिवर्तित नही होता, वरन् इसके विपरीत व्यक्ति दो खण्डो मे विभाजित हो जाता है—आचार के तल पर कुछ और अन्तस के तल पर कुछ। उसके भीतर एक की जगह दो व्यक्ति हो जाते है और सतत सघर्ष एव आत्म-विग्रह उसके जीवन का भाग हो जाता है। वह जो नही चाहता, उसे ही करता है और जो चाहता है, उसे स्वय ही रोक लेता है। यदि कही कोई नरक हो सकता है तो ऐसे व्यक्ति के मन मे ही। समाज व्यक्तियो का समूह है। आज जब व्यक्तियो का जीवन इस प्रकार का हो गया है, तब समूचे समाज का जीवन यदि ऐसा हो जाय तो आश्चर्य की बात नही। इस अन्तर्द्वन्द्व से व्यष्टि और समष्टि रूप से जितना दु ख, पीडा, सघर्ष, विप्लव की उत्पत्ति हुई है वह स्पष्ट है। इस तरह साधी गई सभ्यता के आधार पर शाति खो दी जा रही है। आज के तथाकथित सभ्य व्यक्ति और समाज से अधिक अशान्त व्यक्ति और समाज खोजना कठिन है। इसलिए इस प्रकार की सभ्यता जितनी बढ रही है, अशान्ति उतनी ही बढती जा रही है।

मानसिक रोगों, विक्षिप्तताओं, आत्म-हत्याओं की बढ़ती हुई बाढ़ आकस्मिक और अकारण नहीं है। अन्तस के विरोध में लाये गए आचरण में ही इस अशान्ति के बीज निहित है। यदि यही गति रही तो जिस आधिभौतिक सभ्यता के पूर्ण रूप का चिन्तन किया जा रहा है, यदि सभ्यता का वह पूर्ण रूप बन गया तो समस्त मानवता का विक्षिप्त हो जाना असम्भव नहीं है। यह सत्य कैसा दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखने पर सभ्यता और विक्षिप्तता पर्यायवाची बन जाते है। यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या सभ्य होने का और कोई मार्ग नहीं हो सकता? इसके विरोध में जो विकल्प प्रस्तावित हो रहा है वह भी इससे कम घातक नहीं है। संसार के अनेक विचारक अपने मानसिक स्वास्थ्य को बचाने के लिए असभ्य तक होने को तैयार हो गये हैं। आज इस बात के समर्थक मौजूद है, और उनकी संख्या दिनोदिन बढ़ती जा रही है, जो मानव के ऊपर के सारे भौतिक बन्धनों को, सभ्यता द्वारा आरोपित तथा-कथित नियमों को अलग कर मानव के मन को परिपूर्ण मुक्ति देने के पक्ष में हो गये हैं। इस प्रकार की मुक्ति अराजकता या स्वच्छन्दता बन जाय तो भी उनका मत है कि विक्षिप्त होने की अपेक्षा यह सुखद है। काम (सैक्स) के सम्बन्ध में निर्द्वन्द्वता का समर्थन अत्यन्त प्रभावशाली होता जा रहा है, सैकड़ों ऐसी संस्थाएं है—नग्न क्लब, युवकों के पुरानी पीढ़ी के विरोध में आयोजित नये-नये प्रचार, जैसे बीटनिक और हायडवाड़ियों के आन्दोलन, जो इस हवा को उत्पन्न करने में अनवरत श्रम कर रहे है। प्रारम्भ में लोग उनको दृष्टि से चौंक पड़े थे, किन्तु क्रमशः उन्हें अधिकाधिक समर्थन मिल रहा है। यह स्वाभाविक भी है। यदि विक्षिप्त सभ्यता और असभ्यता में ही चुनाव करना हो तो दूसरे विकल्प को ही समर्थन मिलेगा। पहला विकल्प है मनुष्य की प्रकृति को दमन करने का तथा दूसरा विकल्प है मनुष्य की प्रकृति को पूर्ण स्वच्छन्दता देने का। किन्तु हमारी दृष्टि से दोनों ही घातक है, क्योंकि पहले विकल्प में मनुष्य विक्षिप्त होकर आत्म-घात कर लेगा और दूसरे में मानव मानव ही न रह जायगा।

हम एक तीसरे विकल्प को प्रस्तावित करते है। हमारा जोर सभ्यता पर नहीं, संस्कृति पर है। हम मनुष्य को असभ्य नहीं, संयम देना चाहते

है। हम उसके बहिरग को नही, वरन् उसके हृदय को परिवर्तित करना चाहते है। हमारी आकाक्षा उसकी परिधि को सजाने की नही, उसके केन्द्र को परिवर्तित करने की है।

उसकी आत्मा जाग्रत हो तो उसका आचरण अपने-आप परिवर्तित हो जायगा। अन्तस की ऊर्जा का आरोहण ही मानव को सस्कृत बनाता है और जो भीतर से सुसस्कृत हो, उसका बाहर असभ्य होना असम्भव है। सभ्यता बाहर से थोपा हुआ आचरण है, सस्कृति भीतर से जागा हुआ अनुशासन है। अशुभ न किया जाय तो सभ्यता है और अशुभ न हो सके तो सस्कृति है। अशुभ को रोका नही जाना चाहिए, अशुभ असम्भव हो जाना चाहिए। तब व्यक्ति मे अन्तर्द्वन्द्व नही होता। तब उसके भीतर दो विरोधी स्वर नही होते। ऐसी दशा मे जो सगीत उत्पन्न होता है, उसका नाम सस्कृति है।

सस्कृति हो तो सभ्यता अपने-आप आ जाती है। केन्द्र सभाल लिया जाय तो परिधि अपने-आप सभल जाती है। जो परिधि को प्राथमिकता देते और सभालते है, वे भूल मे पड जाते है। उन्हीके हाथो आज व्यष्टि और समष्टि पीडित है। इस पीडा की प्रतिक्रिया मे जो हो रहा है, वह कुएं से बचकर खाई मे गिरने के जैसा है। मार्ग न कुआ है, न खाई। मार्ग तो मध्य मे है। मार्ग न तो दमन है और न स्वच्छन्दता। मार्ग तो स्वतत्र है और स्वतत्र जगत मे वही है, जो स्वय को जानता है। जिसे स्वय का ज्ञान नही है, उसे स्वतत्रता कैसे मिलेगी। स्वय को जानकर ही स्वतत्रता उपलब्ध हो सकती है और उस प्रकार की स्वतत्रता को ही हम सस्कृति कहते है। सच्चे अर्थ मे ऐसे ही व्यक्ति को हम यजुर्वेद मे मनुष्य को जो 'अमृतस्य पुत्रा' कहा गया है, वैसा मनुष्य कह सकते है और ऐसे ही व्यक्तियो के जुडे हुए समाज को हम 'अमृतस्य पुत्रा का समाज' कह सकते है। ○

२

नैतिक क्रान्ति के मूल आधार

पराधीन भारत और स्वाधीन भारत दोनों का मिलान कर लोग कहा करते हैं कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश का नैतिक स्तर पर अधःपतन हो गया है। घूसखोरी, भ्रष्टाचार और सामाजिक पाप बढ़ रहे हैं। यह बात कुछ दूर तक सत्य है। परन्तु पराधीनता के समय क्या हम नैतिक थे? उस समय इस समय की अपेक्षा हम अधिक नैतिक जान पड़ते थे और उसका कारण यह था कि स्वतन्त्र होने के पश्चात जिस प्रकार और जितनी दूर तक हमें अनैतिक होने की भी स्वतन्त्रता मिल गई, उतनी पराधीनता के समय न थी। यथार्थ में नैतिक दृष्टि से हम उस समय भी किसी ऊँचे स्तर पर नहीं थे। पराधीनता देश में गरीबी लाई और गरीबी के साथ ही असम्मान। स्वाधीनता के प्राप्त होते ही सम्पन्नता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और पराधीनता के कारण, जो असम्मान था वह दूर हुआ—राजनैतिक पदों की प्राप्ति से। अतः दोनों दिशाओं में अर्थात् धन की और पदों की प्राप्ति के लिए दौड़ आरम्भ हुई। इस दौड़ में साधनों का ध्यान लेशमात्र नहीं रखा गया और जिन साधनों से भी धन और पद प्राप्त हो सकते थे, उन सबका उपयोग आरम्भ हुआ। इस प्रकार पराधीन भारत की अपेक्षा स्वाधीन भारत में अधिक अनैतिकता दृष्टिगोचर होती है। न तो हम पराधीनता के युग में नैतिक थे और न आज नैतिक हैं।

नीति की जड़ें उखड़ गई हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि धर्म अप्रतिष्ठित हो गया है। हम उस धर्म को उस रूप में ले रहे हैं, जिसमें हमारी भीतरी भावनाओं का सम्बन्ध है, जिन भावनाओं के अनुसार व्यवहार में हमारा सारा जीवन चलना है। ऐसा धर्म आन्तरिक परिष्कार का विधान है। ऐसा धर्म न हो तो नीति असम्भव है। कई बार कहा जाता है कि इस प्रकार के धर्म से विहीन भी नीति हो सकती है। ईश्वर-विहीन तो नीति हो सकती

है, किन्तु इस प्रकार के धर्म से विहीन नही। इस धर्म से मूलत: सृष्टि और उसके स्रष्टा के ऊहापोह का कोई सम्बन्ध नही है। इस सम्बन्ध का समस्त चिन्तन तत्त्व-मीमासा से सम्बन्ध रखता है। जिस रूप से हम 'धर्म' शब्द का उपयोग कर रहे है, वह न तो 'रिलीजन' है, न 'मजहब' न कोरा चिन्तन। वह है प्रायोगिक विज्ञान और कला। उसके लिए विचारणीय बाह्य सृष्टि नही है। उसमे 'रिलीजन' और 'मजहब' के बाह्य आडम्बर भी नही है। उससे सम्बद्ध है मनुष्य और मनुष्य की अन्तर्निहित सम्भावनाए। मनुष्य जैसा है, उसे वैसा ही यह धर्म स्वीकार नही करता। इस अस्वीकृति से ही नैतिक विकास फलित होता है। ऐसा धर्म न हो तो मनुष्य मे अपने ही प्रति एक विशिष्ट प्रकार का वह असतोप पैदा नही होता, जो मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाता है। तब वह जैसा है, वैसा ही स्वय को अगीकार कर लेता है। न केवल अगीकार ही कर लेता है, वरन् अपने प्रकृत रूप को ही श्रेष्ठतम सिद्ध करने मे लग जाता है। इससे अनीति ही उत्पन्न नही होती, वरन् उसका समर्थन भी पैदा हो जाता है और जब स्वय से कोई असतोप नही रहता तो सच्चे विकास और परिष्कार के सारे मार्ग बन्द हो जाते है।

नैतिक पतन के क्षेत्र मे क्या बाह्य वस्तुओ की अप्राप्ति कारण है? मैने अमरीका मे देखा है कि वहा के निवासियो को यह आधिभौतिक सामग्री इतनी प्राप्त है, जितनी ससार के किसी स्थान मे नही और इतने पर भी वहा का जीवन कितना अनैतिक है!

जब मै सन् १९५२ मे अमरीका गया उस समय अमरीका के 'फेडरल ब्यूरो ऑव इन्वेस्टीगेशन' के डायरेक्टर श्री जे० एडगर हूबर द्वारा प्रकाशित पहली छमाही मे अमरीका के अपराधो की सूची देखने मे आई थी। इस सूची मे बताया गया था कि छह महीने मे अमरीका मे दस लाख सैतालीस हजार दो सौ नब्बे बडे अपराध हुए। हर ४०.३ मिनट पर एक खून, हर २९ ४ मिनट पर एक बलात्कार, हर ८ ८ मिनट पर एक डाका, हर ५.७१ मिनट पर एक चोरी। इस प्रकार १४ ९ सेकिण्ड पर एक बडा अपराध। इसी रिपोर्ट मे यह भी बताया गया था कि अमरीका मे इस प्रकार के अपराधो की सख्या बढ रही है। गत बारह वर्षो मे इस सम्बन्ध मे जो कुछ पढने को मिला, उससे ज्ञात होता है कि इस अवधि मे इस सम्बन्ध मे कोई सुधार

न होकर बिगाड ही हुआ है और यह जो कहा जाता है कि कानूनों की सख्ती उस नैतिक पतन को रोकने मे समर्थ होगी, यह दलील भी कितनी पोची है, यह मैंने लगभग बारह वर्ष पूर्व चीन मे जाकर देखा। वहा घूसखोरी और भ्रष्टाचार के निराकरण के लिए कडे-से-कडे कानून बनाये गए। भ्रष्टाचारी और घूसखोरो को इस सिद्धान्त पर सजाए दी गई कि चाहे ९९ निर्दोष दण्डित हो जाय, पर एक भी दोषी न बचने पाये। कुछ समय तक ऐसा लगा कि चीन का यह प्रयास सफल हो रहा है, पर ज्योंही दमन का शिकजा कुछ ढीला पडा, अब यह पढने मे आता है कि चीन मे पुन पूर्ववत भ्रष्टाचार और घूमखोरी का बाजार गरम हो रहा है।

नैतिक विकास तो तब सम्भव होता है जब स्वय मे सतोष हो और बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति मे असतोष। यह आश्चर्य की बात जान पडेगी कि जो स्वय मे असतुष्ट होते है, वे सहज ही ससार से तुष्ट हो जाते है। ये दोनो सतोष एक साथ कभी नही पाये जाते। आत्म-असतोष ही बाह्य असतोष का कारण है। यह अनीति का मूल है, क्योंकि तब तृष्णा महत्त्वाकाक्षा और उसकी तृप्ति के लिए कैसे भी साधनो का उपयोग करने मे मनुष्य को कोई हिचक नही होती। बाह्य वस्तुओं के अतिरिक्त जब कुछ भी पाने को नहीं है और स्वय सत्ता मे जब न किसी सम्वर्द्धन एव परिष्कार की सम्भावना है तो न तो बुरा करने से कोई पतित होता और न भला करने से परिष्कृत। मूल्य केवल बाह्य वस्तुओं का रह जाता है, सत्-असत का नहीं।

दृष्टि पडती है । चेतना भीतर जितनी समृद्ध होती है, बाहर समृद्धि की चेतना उतनी ही शून्य हो जाती है । वस्तुत बाहर की समृद्धि की खोज आन्तरिक दरिद्रता के छिपाने और भुलाने से अधिक नही है । महात्मा ईसा ने जो यह कहा है कि सुई के छिद्र मे से चाहे ऊट निकल जाय, लेकिन सम्पत्ति-शाली स्वर्ग के राज्य मे प्रवेश नही पा सकेगा, उसका यही प्रयोजन है । ईसा का यह वचन यथार्थ मे सम्पति के विरोध मे नही, आन्तरिक दरिद्रता के सम्बन्ध मे है । जो ऐसा सोचते है कि तीर्थंकर महावीर और भगवान बुद्ध का धनहीन भिखारी हो जाना प्रयत्नजन्य है, वे भूल मे है ।

वस्तुत जिसकी आन्तरिक दरिद्रता मिटने लगती है, उसकी बाहर की सम्पत्ति पर पकड वैसे ही छूट जाती है, जैसे कोई भीतर से स्वस्थ होने लगे तो बाहर की बीमारी विलीन हो जाय ।

मनुष्य की आन्तरिक तृष्णा का अनियत्रित होना और तृष्णा की दिशा से भिन्न उसके भीतर किसी और दिशा का अभाव ही अधर्म है । तृष्णा अकेली रह जाय तो जीवन का अनैतिक होना स्वाभाविक है । तृष्णा की कोई सीमा नही है । आधिभौतिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न अमरीका कितना अनैतिक है, यह इसका प्रमाण है । कानूनी दमन से भी इस अनैतिकता की समाप्ति नही हो सकती, चीन इसका प्रमाण है। नीति का द्वार खोलना हो तो आधिभौतिक तृष्णा के ऊपर आध्यात्मिक तृष्णा आवश्यक है । उसके लिए ऐन्द्रिक वासनाओ के ऊपर कोई दूसरी वासना चाहिए। बाह्य असतोषो के ऊपर कोई असतोष । जो महत्त्वाकाक्षाए क्षुद्र पर समाप्त हो जाती है, वे यथार्थ महत्त्वाकाक्षाए है ही नही । विराट की महत्त्वाकाक्षा को जन्म देना होगा । सरिता जैसे सतत सागर के ध्यान मे बहती है, वैसे ही जब कोई चेतना अहर्निश आनन्द और आलोक के लिए ऊपर उठने का भाव रखती है, तभी जीवन मे नीति का आगमन होता है । नीति धर्म-आरोहण के लिए आबद्ध सकल्प की उप-उत्पत्ति है ।

जब इस प्रकार के व्यक्ति निर्मित होगे, तब समाज तो स्वत· ही अनैतिकता से नैतिकता की ओर मोड ले लेगा । ●

साध्य और साधन

साध्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है या नहीं, इस सम्बन्ध में सदा से ही विवाद उठते रहे हैं। कुछ विचारकों और चिन्तकों का मत रहा है कि साध्य का पवित्र होना ही आवश्यक है और उस साध्य को प्राप्त करने के लिए कैसे भी साधनों का उपयोग किया जा सकता है।

व्यक्ति और समाज में, व्यक्ति और समाज के विकास और उत्क्रान्ति के सन्दर्भ में, इस विषय पर विचार होना चाहिए। साध्य और साधन चाहे भिन्न प्रतीत होते हों, किन्तु यथार्थ में वे भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। जैसे गन्तव्य स्थान और मार्ग चाहे भिन्न दिखाई देते हों, किन्तु यथार्थ में गन्तव्य वही है, जहाँ मार्ग पूर्ण होता है। गन्तव्य मार्ग की ही चरम परिणति है। इसलिए साध्य और साधन को अलग करके सोचना आरम्भ से ही भ्रान्ति में पड़ जाना होगा। जो दोनों को भिन्न माननेवाले हैं, वे ही यह मानते हैं कि अशुभ साधन भी शुभ साध्य तक ले जा सकते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्तिपूर्ण है। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कोई विष बीज बोकर अमृत फल की कामना करे। अशुभ या अपवित्र साधन अशुभ या अपवित्र साध्य पर ही ले जायेंगे। विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अशिव कारण सूक्ष्म रूप से प्रत्येक परिणाम में भी छिपा रहता है। साध्य के पवित्र होने की चर्चा साधन के अपवित्र होने को छिपा भले ही ले, पर उससे साध्य पवित्र नहीं हो जायगा। अशुभ बहुत शक्तिहीन है। उसके पास स्वयं के पैर खड़े होने को कभी नहीं होते। इन पैरों को वह सदा शुभ से उधार मांगता है। दुर्भावना को प्रकट करने के लिए सन्त की मुखाकृति बनानी होती है। अहंकार को बढ़ने के लिए विनय के वस्त्र पहनने पड़ते हैं। युद्ध अपनी प्रामाणिकता शान्ति के नाम में खोजते हैं। अशुभ सदा ही शुभ का नाम लेकर चलता आया है और उस

विभ्रम को पैदा करने का उपाय यही है कि पवित्र साध्य की चर्चा मे कोई कहे कि अपवित्र साधनो से उसे पाया जायगा। इस भाति अशुभ साधनो की प्रामाणिकता शुभ साध्य मे खोज ली जाती है। इससे एक बात और होती है, असत्य अर्द्धसत्य के रूप मे दीखने लगता है। अर्द्धसत्य का सत्य के रूप मे दीखना असत्य के यथार्थ रूप मे दीखने से कही भयानक है, क्योकि असत्य का तो विरोध किया जा सकता है, पर अर्द्धसत्य का नही। यदि अर्द्धसत्य का विरोध होता है तो समाज मे प्राय दो दल बन जाते है, एक उसका विरोधी और दूसरा उसका समर्थक। यह स्थिति ऐसे सघर्ष को उन्नत करती है, जिसका परिणाम विप्लव और विनाशकारी युद्धो मे होता है। सक्षेप मे, पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधनो के उपयोग से ही इस अर्द्ध-सत्य का प्रादुर्भाव होता है, जो असत्य से भी कही भयकर है।

यह स्मरणीय है कि वैर कभी मैत्री उत्पन्न नही कर सकता, घृणा कभी प्रेम को जन्म नही देती और हिंसा से अहिंसा तक पहुचने का कोई मार्ग नही है।

यह अन्तर्दृष्टि मानव के सबध मे खोजे गये सत्यो मे सबसे बडे सत्य मे एक है। इसके ही आधार पर पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधनो का होना अनिवार्य है। वस्तुत साधन ही सूचना दे देते है कि साध्य कैसा होगा। इसलिए साध्य उतना विचारणीय नही, जितना साधन है।

मानवीय सबधो पर जितना भी चितन है, उसके प्रधानतया दो ही रूप है। एक रूप है बुराई का प्रत्युत्तर बुराई। यह पाशविक प्रवृत्ति है। इसमे यथार्थ मे कुछ भी मानवीय नही। इसका परिणाम भी न तो किसी समस्या का समाधान है और न मनुष्य के उदात्त तत्त्वो के विकास का माध्यम। इस प्रवृत्ति के दोहरे उपद्रव है। एक तो यह कि समस्या वही-की-वही बनी रहती है। दूसरे, मनुष्य का पतन हो जाता है। दूसरे शब्दो मे समस्या सुलझती नही, उल्टे मनुष्य का कोई उपाय नही रहता, क्योकि क्रोध के उत्तर मे क्रोध की उत्पत्ति होती है, पुन क्रोध के उत्तर मे क्रोध और इसका अत कहा होगा, यह कहना कठिन हो जाता है। अत विनाश मे ही होता है और विनाश किसी समस्या का समाधान उसी अर्थ मे है, जिस अर्थ मे रोग को समाप्त करने के लिए रोगी को ही समाप्त कर देना। यह प्रवृत्ति अज्ञान

और अधर्म का मूलाधार है।

उपर्युक्त प्रवृत्ति की उलझन एवं विकृति को अनुभव करके जिन विचारकों और चिंतकों ने मानव-मन को समझा है, उन्होंने एक बड़े गहरे नियम का प्रतिपादन किया है। महात्मा ईसा ने कहा था—"पुराना नियम है कि जो तुम्हारी एक आंख फोड़े, तुम उसकी दोनों आंखें फोड़ दो; जो तुम्हें ईंट से मारे, उसे पत्थर से जवाब दो। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, जो तुम्हारे एक गाल पर चांटा मारे, तुम अपना दूसरा गाल उसके सामने कर दो।" यह बात सुनने में चाहे विचित्र मालूम होती हो, लेकिन बहुत कम बातें इतनी सत्य हैं, जो इस सत्य के ऊपर रखी जा सकें। यह इसलिए कि क्रोध का उत्तर मात्र अक्रोध में है और घृणा का उत्तर प्रेम के सिवा कुछ भी नहीं। यह वह समाधान है, जो दोहरा समाधान कहा जा सकता है। समस्या समाप्त होती है और जो इस समाधान का प्रयोग करता है, वह पवित्र होकर पूर्ण की ओर विकसित होता है। इस भांति वह मार्ग में पड़े हुए प्रतिकूल पत्थरों को भी अपने विकास के सोपान बना लेता है। तब उस संसार में प्रत्येक परिस्थिति उसकी सहयोगी और सहचरी बन जाती है। वह प्रतिकूल-से-प्रतिकूल अनुभवों में और ऐसे मार्गों पर जहां पतन की सहज संभावनाएं रहती हैं, उपर्युक्त स्वर्ण-सूत्र का अनुगमन कर अपने को सुरक्षित बना लेता है।

महात्मा ईसा ने तो यहां तक कहा है कि बुराई का प्रतिरोध न करो। यद्यपि उनका यह सूत्र बहुत विवाद-ग्रस्त रहा है, तथापि जो उस सूत्र की आत्मा को समझते हैं, उनके लिए स्पष्ट हो जाता है कि उसका अर्थ यह है कि बुराई का प्रतिरोध बुराई से न करो। प्रतिरोध का एक और मार्ग भी है, जिसे हम प्रेम से प्रतिरोध करना कहेंगे, यद्यपि प्रेम की सहजता के कारण उसे प्रतिरोध कहना भी कठिन हो जाता है। इसीलिए ईसा ने कहा कि बुराई का प्रतिरोध ही न करो, क्योंकि प्रेम प्रतिरोध नहीं है वह तो दूसरे का हृदय-परिवर्तन है।

ऐसे प्रेम के प्रकाश में देखने पर साधन पवित्र और शुभ हो जाते हैं। जो घृणा से सोचते हैं, वे तो केवल अपवित्र साधन ही चुन सकते हैं। दृष्टान्त के लिए, आज सारे विश्व में समाजवाद की चर्चा है। जो पूंजीपतियों से विरोध और

घृणा मे समाजवाद की कल्पना करते है, वे स्वभावत अपवित्र और अशुभ साधनो को चुन सकते है, किन्तु जो दरिद्र और दीनहीनो के प्रेम से प्रेरित होकर समाजवाद की कल्पना करते है, अपरिहार्य रूप से उनके साधन पवित्र और शुभ होगे ही।

साधन शुभ हो तो साध्य के शिव होने का पूर्ण निर्धारण हो जाता है। ●

तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-दर्शन

इस सृष्टि की रचना कब और क्यों हुई, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात न आजतक किसी के द्वारा कही जा सकी और न भविष्य में कही जा सकेगी। मानव को छोड़ जड़-जगम में शायद किसीको इस विषय पर विचार करने की क्षमता ही प्राप्त नहीं है? यों यदि कोई जीवधारी इस पर विचार करता हो तो हमें ज्ञात नहीं, और हो भी नहीं सकता। कौन क्या विचार करता है, इसकी जानकारी हमें भाषा द्वारा ही होती है और अन्य प्राणियों की भाषा समझने में हम असमर्थ हैं। तब किस विषय पर वे क्या सोचते हैं, यह हमें कैसे मालूम हो सकता है!

मानव-जीवन भी अत्यन्त अन्धकारमय है। न तो हमें उसके आरंभ का पता है और न अंत का। उसका अर्थ और अभिप्राय भी हमें अज्ञात है। इस रहस्य को खोलने का मनुष्य ने हजारों वर्ष से यत्न किया है। यह यत्न भी कितने लम्बे काल से हुआ है, इसका भी ठीक पता नहीं लगता। संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है। ऋग्वेद के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं। कुछ लोग तो वेदों को अनादि मानते हैं, परन्तु जो उन्हें अनादि नहीं मानते, उनमें से एक ओर यदि ऋग्वेद को ३००० वर्ष पुराना माननेवाले लोग हैं तो दूसरी ओर ७५००० वर्ष पुराना। जैनियों के मतानुसार जैन धर्म भी अनादि है और उसकी तत्त्व-मीमांसा भी अनादि। महावीर स्वामी तो जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर थे, गौतमबुद्ध के समकालीन। जैन-धर्म के पहले तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिन्हें वैदिक धर्मावलम्बियों ने भी अवतार माना है। ऋषभदेव कब हुए, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु जैन-धर्म वैदिक धर्म का समकालीन धर्म माना जा सकता है। भारतीय धर्मों और विश्व के अन्य धर्मों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भारतीय धर्म तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-दर्शन दोनों पर अवलम्बित हैं। जीवन

का रहस्य समझने के यत्न से ही इन दोनो का जन्म हुआ और बहुत-सी विचार-प्रणालिया उत्पन्न हुईं। इनमे विविध दृष्टियो और कोणो से ऊहा-पोह हुआ। जीवन के निगूढतम प्रश्नो पर हजारो वर्षो से मनीपियो ने अनेक मन्तव्य प्रकट किये। इस प्रकार अनेक धर्म पैदा हुए और उनके अनेक सिद्धान्त एव उन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए अनेक शास्त्र। किन्तु सृष्टि के रहस्य के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार-धाराए आजतक भी किसी ऐसे निष्कर्ष पर नही पहुच सकी हैं, जो निष्कर्ष अकाट्य कहे जा सके। फिर भी भारत मे जो तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-दर्शन हुआ, उसके कारण भारत के अनेक ऋषि-महर्षियो ने इस रहस्य को समझा था। वे केवल तत्त्व-चितक ही नही थे, तत्त्व-दर्शक भी थे। भारत का योग-मार्ग, उस मार्ग मे ध्यान और समाधि विख्यात है। ससार के अन्य देशो मे तत्त्व-चितन तो हुआ, पर तत्त्व-दर्शन नही। और शनै -शनै भारत भी तत्त्व-दर्शन के मार्ग को भूल गया। आज सृष्टि के रहस्य को समझने की समस्या जहा-की-तहा है। एक विचार-प्रणाली यदि किन्ही समस्याओ का एक समाधान निकालती है तो दूसरी विचार-सरणी उसके ठीक विपरीत। विचारको का एक सम्प्रदाय खडे होने की जिस भूमि को अत्यन्त सुदृढ मानता है, दूसरा सम्प्रदाय वहा कोई भूमि ही नही देख पाता। जो किसी सम्प्रदाय मे अपने को आवद्ध नही पाते और जो निष्पक्ष है, उन्हे ये सब विचार, प्रकाश के सम्वन्ध मे, अन्धो की अटकलवाजी प्रतीत होते हैं। किसी ने व्यग्य मे कहा है कि विचारको का प्रयत्न उस अधे आदमी की भाति है, जो अधेरे कक्ष मे उस काली विल्ली को खोजता है, जो वहा है ही नही। यह व्यग्य सत्य के बहुत समीप जान पडता है। इग्लैड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता श्री बर्ट्रेन्ड रसल ने कही कहा है कि तत्त्व-चितन की पुरानी परिभाषा जीवन के समाधान की खोज थी। किन्तु तत्त्व-चितन के अतीत को देखकर यह कहना उचित होगा कि वह समाधान की नही, यथार्थ मे समस्याओ की ही खोज है। समाधान तो उसे मिला ही नही, वरन् नई-नई समस्याए और उलझने उत्पन्न होती गई। विचार की यह खोज खाज को खुजलाने जैसी सिद्ध हुई है।

विचार से ऊबकर और उस दिशा से किसी समाधान को आते न देख मनीपी निर्विचार की ओर मुड़े। विचार की ऊहा छोड कर उन्होने निर्विचार

की निम्नरग दशा को साधा। विचार से जहा नही पहुंचते है, वहा विचार को त्यागकर पहुचने की चेष्टा की। इसी चेष्टा का नाम ध्यान है, जो आगे चलकर समाधि में परिणत हो जाता है। ऊपर कहा गया है कि भारत ने इस मार्ग को खोजा था। अब फिर से उस ओर दृष्टि जा रही है। ध्यान में दर्शन उपलब्ध होता है। चित्त जब शान्त होता है तभी वह देख पाता है। विचार अशाति उत्पन्न करते है और स्वाभाविक है कि अशान्ति से समाधान न मिले। अशान्ति तो समस्या और उलझन को ही जन्म देगी। उससे हल खोजना वैसा ही है, जैसे कोई सूर्य की ओर पीठ करके चले और सूर्य तक पहुचना चाहे। जिन्हे जीवन-सत्य को जानने की अभिलाषा हो, उनके लिए मार्ग विचार नही, ध्यान है। विचार से तत्त्व-चिंतन का जन्म हुआ है और ध्यान से धर्म का। विचार-धाराए अनेक है और जिसे हम धर्म कहते है, वह धर्म एक। ये विचारधाराए एक-दूसरे की विरोधी है और धर्म निर्विरोधी। विचार-सरणिया उलझाती है और धर्म सुलझाता है। विचार-धाराए मात्र चलती है और धर्म पहुचाता है।

मनुष्य की आज की दशा अत्यन्त उलझ गई है। इसका प्रधान कारण यह है कि वह विचारो मे पडा है और ध्यान को भूल गया है। तत्त्व-चिंतन तो हो रहा है, तत्त्व-दर्शन नही। तत्त्व-चिंतन की अनेक धारणाओ ने उसके चित्त को विभ्रमित कर दिया है और उसे समाधान का कोई मार्ग दिखाई नही पड रहा है, न कोई दिशा अनुभव मे आ रही है। वह क्या है ? कहा से है ? कहा के लिए है ? उसे कुछ भी नही सूझ रहा है। मैने बहुत समय पहले एक कविता लिखी थी, जिसकी कतिपय पक्तिया ये थी

कहा से आया मै इस ठौर,
कहां को जाना है अब और ?
मुझे क्यो अपने मध्य ममत्व,
जगत मे मेरा हुआ क्या तत्त्व ?
सृष्टि मे मेरा क्या सम्पर्क,
अमर सचमुच कुछ, या बस तर्क ?
सोचता रहा सदा संसार,
न तो भी पाया इसका पार।

काव्य की दृष्टि से ये पक्तिया एकदम साधारण है, परन्तु हमारी मन-स्थिति की ये कुछ द्योतक अवश्य है। मानव किकर्त्तव्य विमूढ-सा बहा जा रहा है। किसलिए और क्यो ? इसका कोई उत्तर उसके पास नही है। सच्चे धर्म के और उसकी सच्ची साधना के पुनरुत्थान से ही विचारो की अशान्ति की जगह ध्यान की शान्ति स्थापित हो सकती है। उसी शाति से दिशा और दृष्टि मिलेगी। जब वह दृष्टि मिलेगी तभी जीवन का अर्थ और अभिप्राय जाना जा सकता है। जो व्यक्ति स्वय की सत्ता के निगूढतम रहस्य का अनुभव कर लेता है, उसके दु:ख, मृत्यु, अधकार आदि सब विलीन हो जाते है। स्वय को जानकर वह आलोक और आनन्द मे प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसी प्रतिष्ठा पा लेना ही जीवन का अतिम लक्ष्य है, वही है जीवन का परम समाधान। जो उसे बिना पाये जीते हैं, उनका जीवन सन्तापो से भरा एक दु ख स्वप्न मात्र है। अत हमे तत्त्व-चितन को छोडकर अब तत्त्व-दर्शन की ओर मुडना है। ○

भौतिकवाद और आध्यात्मिकता

विचारो और भावनाओ को पूर्ण रूप से व्यक्त करने मे शब्द सदा ओछे पड़ते है । फिर अनेक बार कुछ शब्दों को पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो गलत रहता है । जैसे कष्ट और दुःख । सुख और आनन्द । इन शब्दो का पर्यायवाची शब्दो मे प्राय. उपयोग होता है । पर यदि हम थोड़ा भी गहरे मे जाने का प्रयत्न करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कष्ट और दुःख, सुख और आनन्द यथार्थ मे पर्यायवाची शब्द नही है ।

यह सृष्टि मोटे रूप मे दो विभागों मे विभक्त है, जड और चेतन । चेतन सृष्टि सदा ही सुख की खोज मे रही है, परन्तु मनुष्य को छोड़ अन्य प्राणियो ने आनद की खोज नही की, उनमे आनद की खोज की शक्ति ही नही है । आनद की खोज सदा मनुष्य ने की है और उस खोज मे उसे सुख तथा आनद के भेद का भी भान हुआ है । सुख और आनद मे क्या भेद है, सामान्यत यह मनुष्य भी कठिनाई से जान पाता है । पदार्थवादी सुख को ही आनद समझ लेते है, परतु सुख आनद नही है और न वह दुःख का विरोध है। सुख मात्र कष्ट के अभाव का नाम है । कष्ट के विपरीत सुख है, दुःख के विपरीत आनद है । मनुष्य का भी पार्थिव शरीर है, उस शरीर मे इन्द्रिया है, मन है । पार्थिव शरीर के लिए, जिसके अन्तर्गत इन्द्रिया और मन आ जाते है, आधिभौतिक वस्तुओ की आवश्यकता होती है । जब मनुष्य को भी ये आधिभौतिक उपलब्धिया प्राप्त नही होती तब उसे कष्ट होता है। परन्तु यह स्थिति भी होती है कि पार्थिव शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति की, इन्द्रियो और मन के तोष की समस्त आधिभौतिक वस्तुए प्राप्त रहे, उन वस्तुओ की प्राप्ति से जो सुख मिलता है, उसका अभाव न हो और इतने पर भी दुःख न मिटे । तथागत बुद्ध और तीर्थंकर महावीर के जीवन इसके उदाहरण है कि उन्हे सारे आधिभौतिक सुख प्राप्त थे और इतने पर भी

वे सुख उन्हे सतुष्ट नही कर सके। उन सुखो के बीच उनके भीतर उस दु ख की उत्पत्ति हुई, जिसने उनकी अन्तरात्मा मे वैराग्य को प्रादुर्भूत किया और उन सब आधिभौतिक सुखो को छोड उन्होने उस आध्यात्मिक मार्ग का अवलवन किया, जिसने उन्हे आनद उपलब्ध कराया। जिस समय भारत-वर्ष भौतिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न था, उस समय जिनके हाथो मे सारे भौतिक साधन चरम सीमा तक रहते थे, उन सम्राटो और राजाओ के लिए जीवन के सध्याकाल मे राजपाट छोड, वन मे जाकर, तपस्या की व्यवस्था थी, क्योकि आकठ सुख मे डूबे रहने पर भी उन्हे आनद प्राप्त नही हो सकता था।

दु ख को कष्ट से भिन्न और पृथक् जानना अत्यन्त आवश्यक है। जो दु ख और कष्ट को एक मान लेता है वही सुख और आनद को एक समझने की भूल मे पड जाता है। कष्ट का तल ऐन्द्रिक असुविधा है और इसीलिए सुख का तल ऐंद्रिक सुविधा। ऐन्द्रिक उत्तेजनाए दो प्रकार का रूप ले सकती है—जो उत्तेजनाए अप्रीतिकर है, वे कष्टदायक प्रतीत होती है और जो उत्तेजनाए प्रीतिकर है, उन्हे ही हम सुख के रूप मे जानते है। आनद न तो ऐन्द्रिक है और न उत्तेजना है। वह तो अति ऐन्द्रिक अनुत्तेजना की अत्यन्त शात अवस्था है। ऐसे ही दु ख भी ऐन्द्रिक नही है, वह भी आध्यात्मिक पीडा है।

जीवन मे आधिभौतिक वस्तुओ का अभाव कष्टकारक है। इन कष्टो से चेतना तात्कालिक रूप से मुक्त होना चाहती है। इस मुक्ति की खोज मे ही सारे भौतिक विज्ञानो का जन्म होता है। भौतिक विज्ञान कष्ट के निवारणार्थ ही उत्पन्न हुआ, इसलिए जिन देशो मे जितने अधिक आधिभौतिक कष्ट थे उन देशो मे भौतिक विज्ञान ने उतनी ही अधिक उन्नति की है। चूकि एक समय भारत मे अत्यन्त भौतिक समृद्धि थी, यहा के मानवो को हर प्रकार की भौतिक सुविधाए प्राप्त थी, इसी कारण भौतिक विज्ञान का जन्म यहा नही हुआ और प्राचीन भारत आध्यात्मिक खोजो मे ही सलग्न रहा। जब कोई व्यक्ति भौतिक कष्टो से मुक्त होता है तो उसे उस दु.ख के दर्शन होते है, जो कि कष्टो की भीड के पीछे छिपा रहता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक ऊहा समृद्धि मे उत्पन्न होती है। राम और कृष्ण, महावीर

और बुद्ध तथा हिन्दुओं के प्रायः सभी अवतार और जैनियों के चौबीसों तीर्थंकरों का राजपुत्र होना आकस्मिक घटना नहीं है। इसके पीछे कारण है और वह कारण यह है कि जब कोई भौतिक कष्ट प्रतीत नहीं होता तब आध्यात्मिक पीडा और दुःख का अनुभव होता है। जो दरिद्र हैं और कष्टों से घिरे हैं उनका जीवन कष्टों से जूझने में ही व्यतीत हो जाता है और वे उस दुःख का अनुभव नहीं कर पाते, जो उन्हें आनद की तलाश के लिए उत्प्रेरित करता है। कष्ट सुख की तलाश में ले जाते हैं, दुःख आनद की खोज में। हमारे देश की दृष्टि आज जो भौतिकता की ओर हो गई है उसे हम आध्यात्मिक दृष्टि से बुरा नहीं मानते, क्योंकि जबतक आधिभौतिक उन्नति होकर भौतिक कष्टों का निवारण नहीं होगा तबतक हमारी आंखें आध्यात्मिक आनद के लिए भी मुदी रहेंगी।

यह संभव है कि सच्चे धर्म का, जिसका आध्यात्मिकता से सबध है, उदय अब उन सभ्यताओं में हो, जो आधिभौतिक समृद्धि के शिखर को छू रही हैं। वे संस्कृतियां, जिनका अतीत में ऐसे धर्म से प्रगाढ रूप से सबध रहा है, आज दारिद्र्य और दैन्य से ग्रसित हैं। जाने या अनजाने उनकी चेतना-धारा भौतिकवाद की ओर प्रवाहित हो रही है, यह बिलकुल स्वाभाविक है।

किन्तु भौतिकवादी चिंतन रुग्ण चिंतन है, यह तो मानना ही होगा, क्योंकि वह कष्टों से उत्पन्न होता है, वह स्वास्थ्य की सूचना नहीं है। जब कोई व्यक्ति या समाज धर्मोन्मुख होता है तो वह इस बात का लक्षण है कि उसने भौतिक कष्टों के तल को पार किया है और इन्द्रियों की सीमाओं का अतिक्रमण। भौतिकवाद एक विवशता, एक आवश्यक बुराई, है। जैसे कोई बीमार हो और उसके लिए औषधि की आवश्यकता हो, वैसे ही जब कोई व्यक्ति या समाज कष्टों से घिर जाता है तब उसकी आकांक्षा भौतिक दिशा में बहने लगती है। हम इसे केवल दारिद्र्य का इंगित मात्र मानते हैं। यथार्थ में भौतिक-वाद और अध्यात्मवाद में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद निम्न-तल में अध्यात्मवाद के आनद की खोज है और अध्यात्म दिव्यभूमि में आनद की तलाश।

हमने यहां जो कुछ कहा है वह समूह और सामूहिक चेतना को ध्यान में रखकर कहा है। व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं, जिनकी अंतर्दृष्टि गहरी

है वे कष्टो मे रहते हुए भी दु ख का अनुभव कर सकते है। जिनका विवेक शुद्ध है वे इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि सारे कष्ट मिट जाय तो भी दु ख नही मिटेगा। दु ख तो किसी भी प्रकार की सुविधा से नही मिट सकता, क्योकि उसका सवध असुविधाओ ने नही, वल्कि आत्म-अज्ञान से है। वह तो जीवन-सत्य को न जानने का सताप है। उसका विसर्जन तो तभी होगा जब हम उसको जान सकेंगे, जो हमारे भीतर प्राणो के प्राण की भाति वैठा हुआ है। अनादि, अनत और अमृत के वोध से ही व्यक्ति दु ख को पार करता है और आनद मे प्रतिष्ठित होता है। ●

आचार और विचार

आहार, निद्रा और मैथुन इन कृतियों में मानव और अन्य प्राणी समान हैं, पर निसर्ग ने विचार करने की जो शक्ति मानव को दी है, वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। उपर्युक्त तीन कृतियों को छोड़कर मनुष्य की शेष छोटी-बड़ी जो भी कृति होती है, वह उसके विचार पर आधारित रहती है। विचार बीज-शक्ति है। जिस प्रकार बीज अपने में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता और वह दीख पड़ता है तब, जब वह वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार विचार भी तबतक नहीं दिखाई देता जबतक वह आचार नहीं बन जाता। किसी भी विचार की गौरव-गरिमा उसके आचार में परिणत होने पर प्रकट होती है। परन्तु जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष का निर्माण सम्भव नहीं है, उसी प्रकार बिना विचार के आचार नहीं होता। इसलिए आचार से भी विचार मूल्यवान है क्योंकि आचार के पहले आचार विचार में रहते हैं।

जिस प्रकार प्राणों की परिपूर्णता वायु में है, उसी प्रकार जीवन की विचारों में। एक क्षण को भी वायु से विलग होने पर जिस प्रकार प्राणों में विकलता बढ़ जाती है उसी प्रकार बिना विचार के जीवन में। वायु जिस प्रकार हमारे प्राणों पर प्रभावी है, उनका प्राण-तत्त्व है, उसी प्रकार विचार हमारे जीवन पर प्रभावी है, उसके परिणामों का प्राण-तत्त्व है। फिर जैसे हम अपने भीतर वायु के प्रवेश को रोक नहीं सकते, उसी तरह विचारों के प्रवेश को। अतः वायु जिस प्रकार स्वयं प्रभूत है, उसी प्रकार विचार भी। किन्तु हानि-लाभ की दृष्टि से जिस प्रकार स्वच्छ स्वास्थ्यप्रद प्राण-वायु हमारे लिए अभीष्ट है, उसी प्रकार कार्य-सम्पादन और शुभ परिणाम एवं जीवन-प्रवाह के लिए सुन्दर विचार-सरणी हमारे लिए अनिवार्य है। यदि अपवित्र, अशुभ और अमंगलकारी विचार हमारे अन्तस में आविर्भूत होने लगें तो हमारा सारा जीवन, उसके कार्य और परिणाम प्रदूषित

और विषाक्त वातावरण से भर जायगा, जिसका परिणाम व्यक्ति के पार्थिव शरीर की समाप्ति नही, वरन् उन मानव-मूल्यो का समाप्त होना होगा, जिनपर मानव-जीवन और उसका अस्तित्व अविलबित हैं । अत यदि शरीर को जीवित रखने के लिए हमे स्वास्थ्य-प्रद प्राण-वायु अभीष्ट है तो मानवता को जीवित रखने के लिए स्वस्थ विचार-सरणी, क्योकि जिस प्रकार हमारे स्वास्थ्य और शरीर की प्रामाणिकता वायु मे है, उसी प्रकार हमारे जीवन की उसके आचार मे, जिसका कि बीज रूप विचार ही है, यानी विचार बीज है, आचार वृक्ष। जब बीज ही नही होगा तो वृक्ष की कल्पना कैसे की जा सकती है ? विचार मे जिसे हम बोते है, आचार मे उसकी ही फसल काटते है। यथार्थ मे जीवन एक प्रकार की कृषि ही है। इस जीवन-रूपी कृषि मे असफल वे रह जाते है, जो कुछ भी नही बोते और उनके दुर्भाग्य का तो कहना ही क्या, जो गलत बीज बोये, क्योकि जो बोया है, उसकी फसल तो काटनी ही पडती है। कर्म के फल से बचने का कोई उपाय नही है। कभी-कभी एक बात और देखी जाती है कि विचार विचार तक ही सीमित रह जाते हैं और उनके अनुसार आचार नही हो पाता। परतु यह बात प्राय उन मनुष्यो के जीवन मे होती है, जिनके स्वय के कोई विचार नही होते और "कही की ईट कही का रोडा, भानमती ने कुनबा जोडा" इस कहावत के अनुसार विचार करने की नैसर्गिक शक्ति रहते हुए भी ऐसे मनुष्य दूसरो के विचारो का सकलन मात्र किया करते है। ऐसे लोगो के मस्तिष्क मे विचार आविर्भूत तो होते हैं, पर विकास नही पाते और उस बीज की भाति, जो धरती के गर्भ मे ही सड-गलकर उसीमे समा जाता है, मस्तिष्क मे उठते और विलीन होते रहते है।

व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से आजकल सर्वाधिक चर्चा निरपेक्षता की है। इस विचार के अनुसार आचार की प्राय छानबीन हुआ करती है। धर्म-निरपेक्षता भारतीय सस्कृति का एक मूल विचार माना जाता है। परतु यहा धर्म और सम्प्रदाय को एक मान लिया जाता है। भारतीय सस्कृति मे 'धर्म' शब्द का जो अर्थ माना गया है, उसमे भारत कभी धर्म-निरपेक्ष नही रहा, वरन् यथार्थ मे भारतीय सस्कृति धर्मप्राण सस्कृति ही रही है। सम्प्रदाय-निरपेक्षता यहा सदा रही। आजकल जिस अर्थ मे धर्म-

निरपेक्षता (सैक्यूलरिज्म) का प्रयोग हो रहा है, विचार और आचार की दृष्टि से उसे मैं एक सामाजिक अकर्मण्यता से अधिक नही मानता। यदि उसे हम विचार और आचार का आदर्श मान ले तब तो फिर यही मानना होगा कि हमारा जीवन केवल दूसरो के लिए है, स्वय के लिए नही। व्यक्तियो के बीच अतर-सबधो का शुभ होना ही किसीके जीवन के लिए विचार और आचार का आधार मान लेना एक अधूरी और सच्चे आधार से हीन बात है। धर्म के लिए आचार का अर्थ और भी गहरा है। वह अतर-सबधो का शुभ ही नही है, बल्कि अतर-सत्ता का शिव होना भी है। किसी व्यक्ति के जीवन की दृष्टि से आचार केवल बाह्य घटना ही नही, बल्कि वह आन्तरिक ऊहापोह है, जो उसके अतर मे क्रांति पैदा करता है। जब विचार के कारण अतःकरण बदलता है तो आचार तो अपने-आप बदल जाता है। जैसा ऊपर कहा गया है, आचार की अपेक्षा विचार का मूल्य कही अधिक है, क्योकि आचार विचार पर निर्भर रहता है। अतःकरण मे विचारो के परिवर्तन के अनुसार आचार भी परिवर्तित होता जाता है।

मनुष्य का अतःकरण दो प्रकार से बदला जा सकता है। एक तो बाह्य प्रभाव, दबाव और उपदेश आदि से। इस ऊपरी विधि से अतःकरण बदला हुआ मालूम पडता है, परतु वस्तुतः बदलता नही। इस प्रकार की रद्दोबदल केवल वस्त्रो के परिवर्तन के सदृश है। ऊपरी परिवर्तन से अतःकरण भीतर जैसा है, वैसा ही बना रहता है। ऊपर से थोपे गये इस प्रकार के विचार, जिनमे नैतिक श्रद्धाए, शुभ आदर्श आदि आ जाते है, जीवन के आचार को जबर्दस्ती बदलते रहते है; लेकिन उसका अतःकरण जैसा हो रह जाता है, और कभी अत्यधिक विपरीत अथवा दबावपूर्ण परिस्थिति मे ऐसा आचरण या तो वाष्पीभूत हो जाता है या पाखण्ड में परिवर्तित अथवा पागल-पन मे परिणत हो जाता है, क्योकि प्रभाव अथवा दबाव से जिसे साधा गया है, ऐसे सदाचरण की पर्त अत्यन्त पतली होती है, जिसमें चोट पड़ते ही दरारें और गड्ढे हो जाते है। जीवन के झझावातो का सहन करने की सामर्थ्य उसमे नही होती। ऐसा आचरण गुलदस्ते मे सजाये गए फूलों की तरह होता है, जिन फूलो में कोई जड़ नही होती। इनसे सजावट और शोभा तो बन जाती है, लेकिन उन दृढता, सतोष और शान्ति के दर्शन नही होते, जो

अत करण मे उत्पन्न विचारो से होती है, जिसमे मौलिकता रहती है और जो आन्तरिक क्राति तक जाती है।

अत करण की यह अवस्था स्वय भीतर विचार-शक्ति के जागरण से उपलब्ध होती है। जैसे पानी की हर बूद मे विद्युत छिपी हुई है, वैसे ही चेतना के प्रत्येक अणु मे विचार-शक्ति है, और जैसे पानी से विद्युत पैदा करने के उपाय है, वैसे ही विचार-शक्ति के जमा लेने के भी। इस विज्ञान का नाम ही सच्चा धर्म है, जिससे निरपेक्ष रहना व्यष्टि और समष्टि के लिए घातक है।

प्रत्येक मनुष्य को यह जानना चाहिए कि जिस शक्ति का वह निरतर प्रयोग करेगा, वह शक्ति उसमे बढती जाती है। यह एक प्राकृतिक बात है। सरिता की शोभा उसके प्रवाह मे है। यदि उसके प्रवाह को एकदम रोककर बाध दिया जाय तो भले ही किसी एक क्षेत्र के लिए उसे हम उपयोगी बना ले, उसका जीवन-लक्ष्य नष्ट हो जायगा। इतना ही नही, वह शोभा और श्रीविहीन हो, अपनी उस निर्मलता और प्राणदायिनी शक्ति से भी रहित हो जायगी, जो उसके प्रवाह से सुदूर-वासियो को सुलभ होती रही है। यही क्या, हम अपने-आपको ही ले। यदि हम अपने पैरो से काम न ले तो पगु हो जायगे। यदि हम आखो को बहुत समय तक अधकार मे रखे तो वे अधी हो जायगी। यदि बहुत वर्षो तक हम मौन रक्खे तो हमारी मुखर-शक्ति जाती रहेगी और हम गूगे बन जायगे। यही बात विचार के सबध मे भी है। जो लोग दूसरो के विचार स्वीकार करने की आदत बना लेते है, उनकी स्वय की विचार-शक्ति या तो पैदा ही नही हो पाती और यदि पैदा होती भी है तो पुन सो जाती है, यानी प्रसव के साथ ही समाप्त हो जाती है। ऐसे लोग ही दूसरो के लिये हुए सकलित विचारो के कारण आचार मे पगु देखे जाते है। उनके आचार की यह पगुता शरीर की आगिक पगुता से कही भयकर होती है, क्योकि शरीर से पगु व्यक्ति अकर्मण्य और निष्क्रिय रहने के कारण न स्वय का कोई अहित कर सकता है, न समाज का, किंतु आचार से पगु व्यक्ति असदिग्ध रूप से अनेक बार अपने साथ समाज को भी क्षति पहुचाते देखा गया है। ऐसे व्यक्तियो के लिए अग्रेजी की एक व्याख्या प्रचलित हो गई है—'आर्मचेयर पॉलिटिशियन'। ऐसे लोग समाज के लिए सृजन के नही,

सिरदर्द के कारण नत बैठते हैं।

स्वयं विचार करने से प्रत्येक परिस्थिति में विचार की ऊर्जा का क्रमशः जागरण होता है। जब विचार जागता है तो जीवन में एक नया नेत्र उपलब्ध हो जाता है। यही वह तीसरा नेत्र है, जो हमारे दो चर्मचक्षुओं की भांति साधारण नहीं, वरन् किसी भी वस्तु, समस्या और उसके आर-पार देखने की दूर दृष्टि रखता है। जो विचार-रूपी नेत्र को उपलब्ध नहीं कर पाते, वे जीवन का काम दो चर्म नेत्रों से चलाते जाते हैं। अपने इस तीसरे आन्तरिक नेत्र के अभाव में ऐसे लोगों को जीवन में जो शुभ है, उसके दर्शन नहीं हो पाते और उस नेत्र के अभाव में ऐसे लोगों का जीवन यांत्रिक रूप से चलता है, जिसका न कोई लक्ष्य होता है, न उद्देश्य। किन्तु जिसको विचार-रूपी तृतीय नेत्र उपलब्ध हो गया और विवेक की ज्योति मिल गई, उसके उपलब्ध होते ही उस नेत्र के उन्मीलन मात्र पर आचार अपने-आप परिणाम-रूप में उसका अनुचर बन जाता है। चर्मचक्षुओं के रहते आग में हाथ देना, मार्ग के गड्ढों में गिरना अथवा दीवार से सिर टकराना असंभव है। उसी प्रकार अनाचार के मार्ग में प्रवृत्त होना अथवा किसी भी परिस्थिति में कर्तव्याकर्तव्य से च्युत होना उस व्यक्ति के लिए असंभव हो जाता है, जिसे यह विचार-रूपी तीसरा नेत्र प्राप्त हो गया है। इस विवेक-दर्शी त्रिनेत्रवाले व्यक्ति की शुभाचार के सिवा कोई गति नहीं रहती। विचार-जनित के समक्ष विकल्प नहीं होते, उनके पास तो मात्र शुभ-ही-शुभ रह जाता है। ०

७

सभ्यता का केन्द्र और क्रान्ति

यह माना जा रहा है और इस मान्यता का प्रचार किया जा रहा है कि दिनो-दिन मनुष्य प्रगति और उन्नति कर रहा है । जहातक भौतिक वस्तुओ का सम्बन्ध है, इसमे सदेह नही कि पिछली दो शताब्दियो मे मनुष्य ने अत्यधिक विकास किया है। वाष्प-शक्ति और उस शक्ति के प्रयोग करने-वाली कलो के अनुसधान एव निर्माण के पूर्व की स्थिति और आज की स्थिति का मिलान किया जाय तो उस काल तथा इस काल की भौतिक अवस्था के अन्तर का ज्ञान हो जायगा । इस मशीन-युग मे क्या-क्या हुआ है ? मनुष्य को हर प्रकार की सुविधाए प्राप्त कराने का इस बीच जितना प्रयत्न हुआ, उतना इसके पूर्व कभी नही हुआ था । यातायात के शीघ्रगामी साधनो के कारण मनुष्य के कार्यो मे समय की बडी भारी बचत हुई है और अब स्थान की दूरी को वह इस सीमा तक तय कर लेना चाहता है कि हम अन्य लोको मे पहुच सके । इसीलिए यह प्रचार किया जा रहा है कि मनुष्य का विकास हो रहा है । विकासवाद की पिछले दिनो बहुत प्रतिष्ठा हुई है । परन्तु दूसरी ओर इस सारे विकास के नाश करने के साधन भी बढते जा रहे है । ये साधन अणुबम और उद्जन बम तक पहुच चुके है और यदि इन साधनो की प्रगति की यही गति रही तो ऐसे बम का निर्माण भी हो सकता है, जिससे हमारे इस भू-मण्डल के टुकडे-टुकडे हो जाय और यह समस्त भौतिक सभ्यता, इसके निर्माता मनुष्य के सहित, नष्ट-भ्रष्ट हो जाय ।

एक ओर आधिभौतिक समृद्धि की प्रचुरता और इसीके साथ दूसरी ओर इसके सम्पूर्ण नाश की योजना मानव-इतिहास की एक अद्भुत घटना है । इसका कारण है। मनुष्य की शक्ति ही बढी है । सम्पदा और सुविधा मे विकास हुआ है । किन्तु इस बाह्य प्रगति और उन्नति के साथ आन्तरिक दृष्टि से मनुष्य मे कोई विकास नही हुआ । उसकी आन्तरिक अवस्था उन्नत

होने के स्थान पर पतन ही हुई है।

शक्ति तो सर्वत्र दीखती है, पर शांति कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। जीवन का वास्तविक आनन्द और अर्थ भी क्षीण हुआ है। आचार और शील का सौंदर्य भी घटा है। मनुष्य की आत्मा को हम नित्य कुरूप-से-कुरूप होते देख रहे हैं। हमारे पहले जो मानव थे, वे भौतिक दृष्टि से चाहे इस प्रकार समृद्ध न रहे हों, और वे इस प्रकार समृद्ध नहीं थे, यह मानना ही होगा। फिर भी उनमें आज के मानव से अधिक शान्ति की भावनाए थीं। उसके कारण उनके हृदयों में आनन्द का एक स्रोत बहता था। इसी वजह से उनके आचार और शील में सौंदर्य था। भौतिक दृष्टि से पीछे रहने पर भी मानवता की दृष्टि से वे हमसे अधिक विकसित थे। यदि हमारी दृष्टि केवल भौतिकता की ओर ही रही तो भविष्य में हमारा क्या होनेवाला है, इस संबंध में आज कोई निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन है। हमारा सर्वनाश हो जाए, यह भी असम्भव नहीं है।

एकत्र हो गये और उन लोगो ने उन रुपयो को पाने की याचना की। वह सन्यासी बोला, "कुछ देर रुको, मेरी दृष्टि से सर्वाधिक दरिद्र व्यक्ति के आने पर मैं ये रुपये उसे दूगा।" इसी बीच राजपथ पर देश के राजा की सवारी निकली। जब ये याचक सवारी देख रहे थे, तब उस सन्यासी ने अपने रुपये लाकर हाथी पर बैठे हुए राजा के पास फेक दिये। राजा ने चकित होकर उसका कारण पूछा और उन दरिद्र याचको ने हैरान होकर कहा कि आप तो कहते थे कि अपने रुपये आप दरिद्रतम व्यक्ति को देंगे। वह सन्यासी हँसने लगा और बोला, "मैने देश के सर्वाधिक दरिद्र व्यक्ति को ही अपने रुपये दिये है।" यह कथा चाहे सत्य न हो, पर यह हमारे भीतर हमारी अन्तर्दृष्टि के द्वार खोल सकती है। एक सम्पत्ति बाहर है और एक सम्पत्ति भीतर भी है। भीतर जो सम्पत्ति है उसके न होने पर जो बाहर सम्पत्ति है, वह अन्तत विपत्ति ही सिद्ध होती है, क्योकि उससे शान्ति के लिए कोई मार्ग नही मिलता। भीतरी सम्पदा के बिना वह बाह्य सम्पदा न तो सच्चा आलोक दे सकती है और न आनद। जो उसमे उलझ जाता है वह अशाति की आधियो मे ही अपने जीवन-दीप को बुझा देता है। इस दृष्टि से केवल समय के आधार पर हम अपनेको चाहे कितना ही विकासशील क्यो न कहे, पर समय बीतने पर हमारा यह कथन अज्ञान ही सिद्ध होगा। विकास समय के तल पर नही वरन् चेतना के तल पर होता है। काल मे केवल परिवर्तन है। सच्चा उन्नयन आन्तरिक चेतना मे ही सम्भव है। बाह्य समृद्धि की तलाश समय मे होती है और आत्म-समृद्धि की खोज चेतना के ऊर्ध्वगमन मे। समृद्धि पीछे से आगे की ओर बढती है और चेतना नीचे से ऊपर की ओर। ये दोनो बडे विभिन्न मार्ग हैं।

मनुष्य की भौतिक समृद्धि बढती है तो उसकी अभिव्यक्ति उसके शक्ति-सम्पन्न होने मे होती है और उसकी आध्यात्मिक सत्ता बढती तो उसकी अभिव्यक्ति शाति मे होती है। मनुष्य कितना शात होता है, उससे ही उसके आत्म-विकास का सच्चा परिदर्शन होता है। क्षुद्रतम कारण जिसकी शाति को खण्डित कर दे, वह मनुष्य क्षुद्रतम है। जिसकी शाति किसी भी स्थिति मे विक्षुब्ध न की जा सके, वही मनुष्य मनुष्यता के पूर्ण विकास को उपलब्ध हुआ कहा जा सकता है। उसकी ही विजय वास्तविक है और उसकी ही

शक्ति ऐसी है जिसे उससे छीना नहीं जा सकता। एक शक्ति भौतिक साधनों से आती है, वह छीनी जा सकती है और एक शक्ति का आविर्भाव स्वयं में होता है, जिसे न छीनना सम्भव है, न नष्ट करना। उसमें रहकर ही असहाय दशा का अन्त होता है। इस अनुभूति को ही हम चाहें तो ईश्वर की अनुभूति कह सकते हैं। बाहर खोजने से ऐश्वर्य और भीतर खोजने से ईश्वर मिलता है, और जगत् में दो ही तरह की उपासनाएं हैं—ऐश्वर्य की तथा ईश्वर की। ऐश्वर्य का विकास वास्तविक विकास नहीं है, क्योंकि उसमें आपके पास तो सबकुछ होता है, लेकिन आप कुछ नहीं होते। ऐसे दरिद्र अपनेको समृद्ध होने का धोखा दे लेते हैं। और 'न कुछ', 'सबकुछ' होने के भ्रम में पड़ जाते हैं। सिकन्दर महान की कब्र पर लिखा है कि 'जीतेजी जिसकी तृप्ति के लिए सारी दुनिया छोटी थी, मरकर उसके लिए कब्र काफी हो गई।' सच्चा विकास ऐश्वर्य में नहीं, ईश्वर में है। ऐश्वर्य के विकास में व्यक्ति सब होना और पाना चाहता है, लेकिन अंतत उसे मालूम होता है कि वह न कुछ था, न कुछ है। ईश्वर के विकास की दिशा ऐश्वर्य के विकास की दिशा से भिन्न है। उसमें व्यक्ति न सबकुछ पाना चाहता, न सबकुछ होना। जिस दिन वह 'न कुछ' होने में समर्थ हो जाता है, उसी दिन वह पाता है कि वह 'सबकुछ' हो गया। जो पूर्ण को मान्यता देते हैं वे शून्य हो जाते हैं और जो शून्य को पा लेते हैं, वे पूर्ण हो जाते हैं। ऐश्वर्य पाने की दौड़ से अशान्ति बढ़ती चली जाती है, क्योंकि भौतिक समृद्धि तो बढ़ती है, किन्तु आत्मिक दरिद्रता मिटती नहीं। इससे जो तनाव पैदा होता है वह तनाव अशांति है। ईश्वर की खोज में चाहे दरिद्रता वरण की जाय, परन्तु उससे ही सच्ची समृद्धि उत्पन्न होती है। इस सामञ्जस्य का संयोग ही शांति है। जब से हमने इस सूत्र को विस्मरण किया है, हमारी समग्र सभ्यता अशान्ति के केन्द्र पर निर्मित हो रही है। इस सत्य का पुनर्स्मरण ही हमें पुनः शांति की दिशा में अग्रसर और प्रतिष्ठित कर सकेगा। इस अशांति के अत्यधिक दबाव में मनुष्य की दृष्टि इस ओर उठ रही है। हम एक बहुत बड़े संक्रमण से गुजर रहे हैं। अशान्ति इतनी तीव्र हो गई है और सर्वनाश का भय इतना उत्कट कि या तो मानव इन तनावों में विघटित होकर सर्वनाश को प्राप्त होगा, या फिर सभ्यता एक नये केन्द्र पर निर्मित होगी। वह केन्द्र होगा अध्यात्म और परिधि होगी

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म और साम्प्रदायिकता मे बड़ा भारी भेद है, इस तरफ बहुत कम ध्यान जाता है और प्राय धर्म और सम्प्रदाय दोनो शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह भारी भूल है।

धर्म सत्य को प्राप्त करने का तथा उस दिशा मे जीवन को चलाने का साधन-स्रोत है। वह परम सत्य की अनुभूति भी है और उसे पाने का माध्यम भी। इस प्रकार वह साध्य भी है और साधन भी। वस्तुत तो जो अंतिम चरण मे उपलब्ध होता है, वह प्रथम चरण मे ही अन्तर्हित होता है। इसीलिए धर्म आरंभ है और अन्त भी। किन्तु ऐसा धर्म नितात वैयक्तिक और निजी अनुभूति है, जो स्वय मे ही साधा और स्वय मे ही पाया जाता है। अनुभूति का क्षेत्र स्वभावत. वैयक्तिक है। समूह को एक साथ कोई अनुभूति नहीं होती, क्योंकि समूह के पास कोई इकट्ठी चेतना या आत्मा नही है। चेतना प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी-अपनी है। सत्य और सौंदर्य की प्रतीतिया भी निजी होती है। किंतु धर्म समाज और परम्परा का रूप भी ले लेता है। उस समय वह सम्प्रदाय बन जाता है। इस प्रकार सत्य तो एक है धर्म भी एक है, किन्तु उसे पाने के अनेक मार्गों के कारण उसके सम्प्रदाय हो जाते है। ये सम्प्रदाय न केवल अनेक हैं, वरन् आपस मे विरोधी भी हो जाते है। यदि किसी वृत्त की परिधि से कुछ व्यक्ति अलग-अलग बिन्दुओं पर केंद्र की ओर यात्रा आरंभ करें तो यात्रा के अत मे तो वे एक ही स्थान पर पहुचेंगे, परन्तु आरम्भ मे अलग-अलग जाते मालूम होंगे। उन बिन्दुओं से चलनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यही मानेगा कि मै जिस केंद्र पर जा रहा हू, दूसरा उस केन्द्र पर नही जा रहा है। ससार वृत्त की परिधि है और सत्य परिधि का केन्द्र। इसीलिए जितने व्यक्ति है, उतने ही सम्प्रदाय हो सकते है, किन्तु सत्य तब भी एक ही रहेगा। सम्प्रदाय के

है जहा से हम चलते है और धर्म वह है जहा हम पहुचते है। जहा यात्रा मे पहुचनेवाला केन्द्र प्रमुख न होकर प्रस्थान करनेवाला बिंदु प्रमुख हो जाता है, वहा साम्प्रदायिकता पैदा हो जाती है। सम्प्रदाय का होना बुरा नही है, किंतु साम्प्रदायिकता का होना बुरा है। साम्प्रदायिकता मे धर्म तो विलीन हो जाता है और सम्प्रदाय मात्र ही शेष रह जाता है। यह उस प्रकार है, जैसे आत्मा तो निकल जाय और शरीर ढोया जाय। मार्गो पर गन्तव्य को बतानेवाले चिह्न लगे होते है। जो यात्री इन चिह्नो को ही गन्तव्य स्थान समझ बैठे, उनके सबध मे हम क्या कहेगे ? धर्म को छोड़-कर जो सम्प्रदाय को पकड लेते है, उनकी भी गति वैसी ही है। इससे जडता और मदान्धता पैदा होती है। ऐसी साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण सम्प्रदाय और सम्प्रदाय के बीच कलह और विग्रह खडा होता है। जो धर्म शाति का मुख्य साधन है, उस धर्म के नाम पर ससार के इतिहास मे कितनी अशाति हुई है और इस अशाति मे कितना रक्तपात। पश्चिम मे तो 'क्रूसेड' नाम से न जाने कितने युद्ध लडे गये। एक युद्ध मे तो नन्हे-मुन्ने बच्चो की सेना थी। ऐसी सेना लडती भी क्या ! इस सेना के बच्चो का धर्म के नाम पर बलिदान हुआ। मनुष्य का इतिहास इस प्रकार की अत्यन्त दूषित और हृदय को हिलानेवाली घटनाओ से भरा पडा है और यह सब हुआ है धर्म के नाम पर। जिस धर्म का काम शाति, प्रेम और अहिंसा की स्थापना था, उसके नाम पर कितना कलह, कितनी हिंसा और कितनी घृणा का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु धर्म के नाम पर जो भी कलक के चिह्न दीख पडते है, उन्हे साम्प्रदायिको ने लगाया है। सच्चे धर्म के पराभव मे मूल हाथ उन्हीका है। उनके कारण ही विचारक और विवेकशील लोग धर्म के विरुद्ध हो गये। उनके ही कारण राज्य और शिक्षा धर्म-निरपेक्ष हो, इस पक्ष मे ससार के अधिकतम विचारवान लोगो का मत है। इस तथाकथित धर्म-निरपेक्षिता ने हमारी कम हानि भी नही की है। सच्चे धर्म से जिस नीति का समन्वय है, उस नीति के पैर उखडे, शासन मे अनैतिकता आई और धर्म-निरपेक्ष शिक्षा ने नई पीढी को नैतिक बनने से रोका। साम्प्रदायिकता की इस दौड ने धर्म की प्रतिष्ठा को धूमिल किया है और उसके अधे प्रचार तथा आग्रह के कारण मनुष्य के चित्त को मुक्त होने मे नही, वरन् और भी अधिक

बन्धन में पड़ जाने के लिए अवसर मिला है। जो प्रस्थान-बिंदु थे, वे कारा-गृह हो गये हैं। मुक्ति के उपायों के बन्धन की जंजीरें बन जाने की यह दुर्घटना कैसी आश्चर्यजनक है।

सच्चे धर्म पर जिनकी आन्तरिक दृष्टि है, वे यदि किसी सम्प्रदाय में हों तो भी उस सम्प्रदाय के नही हो पाते। जैसे यह कहा गया है कि जो शासन जितना कम शासन करता है, वह उतना ही श्रेष्ठ शासन है, उसी प्रकार जो सम्प्रदाय जितना कम साम्प्रदायिक हो, उतना ही वह श्रेष्ठ सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय की मानता जब शून्य होती है तो धर्म पर दृष्टि सर्वरूपेण स्थिर हो जाती है। परतु जो सम्प्रदाय पर रुक जाते है, वे धर्म पर कभी नही पहुच पाते। सीढिया चढने को है, रुक जाने को नही, और मार्ग पहुचने को है, पकड रखने के लिए नही। भगवान् बुद्ध ने कहा है—"नावो मे नदियो को पार करो, किंतु उनको सिर पर लेकर न चलो।" च्वागत्जे ने कहा है—"मित्रो, जालो से मछलियो को पकडो, जाल लिये क्यो बैठे हो?" जिनकी बुद्धि साम्प्रदायिक हो गई है, वे नावो को सिर पर लेकर चलते है और जालो से मछलिया नही पकडते, वरन् हमारे जाल दूसरो से श्रेष्ठ हैं, यह सिद्ध करने मे जीवन व्यतीत करते है। धर्म तो बेडा है, सम्प्रदाय बोझ बन जाता है।

१

जीवन और लक्ष्य

जीवन किस प्रकार जिया जाय, यह प्रश्न मानव-जीवन के सम्बन्ध मे ही उठता है, अन्य किसी प्राणी के जीवन के सम्बन्ध मे नही, क्योकि मनुष्य एव अन्य जीवो मे चेतना होते हुए भी मनुष्य के सिवा अन्य प्राणियो का जीवन आहार, निद्रा और मैथुन तक ही सीमित रहता है।

मनुष्य का जीवन भी दो प्रकार से जिया जा सकता है—एक बिना किसी लक्ष्य के और दूसरा किसी विशिष्ट लक्ष्य को सम्मुख रखकर। बिना किसी लक्ष्य के मानव-जीवन भी जिया जा सकता है, पर उस प्रकार के मानव-जीवन मे भी कोई कृतार्थता का बोध नही होगा। ज्ञान-शक्ति प्रकृति से मानव को जिस प्रकार की मिली है, अन्य किसी जीवधारी को नही, परन्तु इस शक्ति के बावजूद मनुष्य के लक्ष्य-हीन जीवन मे अनुभूतिया क्षणिक होगी, समग्रता और अखण्डता का ऐसे जीवन मे अनुभव नही होगा। पूरे जीवन का क्या अभिप्राय था, यह अप्रकट ही रह जायगा। इस प्रकार के जिये गए जीवन मे केवल इद्रिया ही भाग लेगी। इद्रियो के अनुभव की क्षमता क्षणिक और आणुविक ही होती है। मेधा रहते हुए भी इद्रियो के माध्यम से हम जीवन की परिधि को स्पर्श भर कर पाते है। केन्द्र अस्पर्शित ही रह जाता है और अन्त मे ज्ञात होता कि मनुष्य होते हुए भी हम व्यर्थ ही जिये और हमारी मुट्ठिया खाली ही रह गई। ऐसे लक्ष्य-हीन मनुष्य की प्रसुप्त सम्भावनाए न तो वास्तविक बन पाती है और न उनकी परितृप्ति चरम शिखरो को पहुच पाती है, क्योकि जो बिना लक्ष्य के जीता है वह चलता तो अवश्य है, पर किसी विशिष्ट मजिल पर पहुच नही पाता।

जीवन की गहराई और केन्द्रीयता किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित होने से ही उत्पन्न होती है, क्योकि लक्ष्य के आधार पर ही चलने से जीवन खण्ड-खण्ड नही रह जाता, वरन् एक अखण्डता को उपलब्ध करता है। जन्म से लेकर

मृत्यु तक कही पहुचने की अभीप्सा उसकी सारी शक्तियो को इकट्ठा कर देती है। तब वह उसके माध्यम से ही अपने भीतर अराजकता के स्थान पर व्यक्तित्व के जन्म को होता हुआ अनुभव करता है। लक्ष्यहीन जीवन अराजक जीवन है। लक्ष्य व्यक्तित्व देता है। व्यक्तित्व का अर्थ है सारी शक्तियों का केन्द्रित होना और समस्त प्रवाहो का एक दिशा का अनुसरण करना। भीतर लक्ष्य के रूप मे एक केन्द्र को और बाहर लक्ष्य को पहुचने की एक दिशा हो, तभी व्यक्तित्व पैदा होता है। इसके बिना मानव को निसर्ग से जो एक विशिष्ट प्रकार की ज्ञान-शक्ति मिलती है, उसके रहते हुए भी चलना एक अन्धा प्रयास है। मानव-जीवन का पथ भी अन्धकार-पूर्ण है, परन्तु जिस व्यक्ति के भीतर लक्ष्य रूपी दीपक न हो तो उसकी समग्र गति अन्ततः शक्ति और समय का अपव्यय ही सिद्ध होती है। ऐसा मनुष्य कोल्हू के बैल की भाति घूमता हुआ पाया जाता है। उन थोडे-से अनुभवो की पुनरावृत्ति उसके जीवन मे बार-बार होती है। वे अनुभव सैक्स के हो, पद के हो, प्रतिष्ठा के हो या अन्य केन्द्रित अनुभूतियो के हो। लक्ष्य-रहित जीवन इसी प्रकार के अनुभवो के आस-पास घूमता हुआ बीतता है। उसमे चैतन्य के कारण गति तो होती है, लेकिन लक्ष्यवाले जीवन मे जो प्रतीति होती है, वह नही। भाव तो होता है, किन्तु विकास नही होता। ऐसे जीवन मे अन्तः चेतना न तो परिपक्व बन पाती है और न परितृप्ति, क्योंकि लक्ष्यवाले जीवन मे तो अनुभूतियों की परिपक्वता परितृप्ति लाती है।

जीवन का लक्ष्य कैसे निश्चित किया जाय, यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। यह लक्ष्य अपनी रुचि के अनुसार ही निश्चित किया जा सकता है। जहाँतक रुचि का सम्बन्ध है, उसमे कितनी दूर तक पूर्वजन्म का सम्बन्ध है, यह कहना तो कठिन है, तथापि आनुवंशिकता और वायुमण्डल जिसमें मनुष्य पलता है, इन दो बातो का रुचि से सम्बन्ध अवश्य रहता है। इसीलिए एक मनुष्य की रुचि और दूसरे की रुचि मे अन्तर करना पड़ता है। यह लक्ष्य निश्चित न करना जीवन के लिए सबसे बड़ा पाप है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दोष अधिकांश पाप प्रायः इस लक्ष्य-हीनता से ही उत्पन्न होते है, क्योंकि लक्ष्यहीन व्यक्ति के लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं, इसमें कोई भेद नही रह जाता। जो व्यक्ति किसी मंजिल पर पहुचना चाहता है, वही आगे

लक्ष्य के अनुसार अपने जीवन को चलाता है, फिर उसका चुना हुआ मार्ग सही हो या गलत। लेकिन जो कही पहुचना ही नही चाहता, उसके लिए मार्ग सही या गलत होने का कोई सवाल ही नही उठता। उसके लिए सभी रास्ते एक-से हो जाते है, उनमे चुनाव का कोई प्रश्न ही नही रह जाता। चुनाव तो तभी हो पाता है जब लक्ष्य स्पष्ट हो। जब कोई मजिल नही तब मजिल के बिना व्यक्ति का पथभ्रष्ट होना, या भटक जाना स्वाभाविक है, जिसका परिणाम मानव-योनि मिलने पर भी जीवन नष्ट हो जाना होता है। समुद्र मे किसी गतव्य पर पहुचने का ध्यान निश्चित किये बिना यदि कोई नौकाए निकलती है तो हम उन नौकाओ के नाविको को पागल कहेगे, किन्तु जीवन-सागर पर अधिकाश लोग बिना किसी लक्ष्य के ही जीवन-नौकाए चलाते दीख पडते है।

जीवन के लक्ष्य की खोज व्यक्ति के सामने सबसे बडा प्रश्न है। लक्ष्य गलत भी खोजे जा सकते है और तब लक्ष्यहीन जीवन से भी ऐसे लक्ष्यवाले जीवन की अधिक दुर्गति हो जाती है, क्योकि लक्ष्यहीन व्यक्ति कभी भूले-भटके ठीक तटो से भी टकरा सकता है, किन्तु जिसने गलत लक्ष्य चुन लिया है, उसके लिए ऐसी सम्भावना भी शून्य हो जाती है। वह तो अपने ही हाथो जीवन के अन्धकार को और बढा देता है। वह जानबूझकर प्रकाश की ओर पीठ कर लेता है। इसलिए लक्ष्य चुनना बडा भारी उत्तरदायित्व है, व्यष्टि का अपने प्रति और समष्टि के प्रति। सच तो यह है कि जीवन का सारा उत्तरदायित्व अपने ही प्रति होता है, क्योकि जीवन को नष्ट करने या जीवन को ठीक दिशा मे निर्मित करने मे हम समर्थ है। इसलिए हमारा लक्ष्य का चुनाव जीवन का चुनाव और जीवन के प्रत्येक चरण का चुनाव है। इस सम्बन्ध मे हमारा बहुत बडा उत्तरदायित्व है, इससे हम आख नही मूद सकते।

जीवन के लक्ष्य के निर्णय मे ऊपर कही गई आनुवशिकता और वायुमडल का सम्बन्ध तो है, पर यह बहुत दूर तक इस बोध पर भी निर्भर रहता है कि हम जीवन और मृत्यु की शक्तियो को पहचाने। जो भी मरणधर्मा और विनाशशील है, वह जीवन का सद्लक्ष्य नही हो सकता। उसे खोजना चाहिए वह जो अमृत है। उसकी एक फीकी-सी भी किरण मिल जाय तो भी उसके सहारे हम अमृत के मूल स्रोत तक पहुच सकते है। ●

व्यष्टि समष्टि के यंत्र का पुर्जा नहीं

आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या है कि व्यक्ति समाज के लिए है अथवा समाज से स्वतन्त्र भी उसका कोई अस्तित्व है?

हम देखते हैं कि इस युग में व्यक्ति का मूल्य निरन्तर गिर रहा है। समाज और राज्य प्रभावशाली होते जा रहे हैं। यदि यही होता रहा तो अन्ततः ऐसा समय आ सकता है जब व्यक्ति समूह-यन्त्र का एक पुर्जा मात्र होकर रह जाय। उस घड़ी से अधिक दुर्भाग्य की शायद कोई घड़ी न होगी, क्योंकि जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ है, उस सबका जन्म यथार्थतः व्यक्ति में होता है और उसके जन्म की आधार-शिला व्यक्ति का स्वातन्त्र्य है। व्यक्ति जितना स्वतन्त्र होगा और सामाजिक तन्त्र के उसपर जितने कम नियंत्रण होंगे, उतनी ही उसकी चेतना अधिक सृजनात्मक होगी। सृजन के लिए स्वतन्त्रता अपरिहार्य है। किन्तु आज राज्य और समाज व्यक्ति को उस सीमा तक परतन्त्र कर देना चाहते हैं, जहां उसे व्यक्ति कहे जाने के लिए कुछ शेष न रह जाय। व्यक्ति के इस स्वातन्त्र्य-हरण का जब-जब प्रयत्न हुआ है, उस प्रयत्न के विरोध में विचारकों की आवाज भी सदा उठती रही है। आज की सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज के अधिकांश विचारक भी व्यक्ति को गौण और समाज तथा राज्य को प्रमुख मान रहे हैं। इन विचारों के समर्थन में लगातार प्रचार हो रहा है। उसका असर भी पड़ा है। व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य, राज्य की अधिनायकतन्त्रता में बाधा है, यह कहा जाता है। राज्य का अधिक-से-अधिक शक्ति-सम्पन्न होते जाना व्यक्ति की मृत्यु सिद्ध होगा। हम उस मृत्यु की ओर क्रमशः बढ़ रहे हैं। अणु-अस्त्रों में भी उतना डर नहीं है, जितना इस अधिनायकता में। अणु-अस्त्रों से शरीर ही नष्ट हो सकता है, परन्तु राज्य की अधिनायकता मनुष्य की आत्मा की भी मृत्यु बन सकती और आत्मा के जाने से मर जाता है

श्रेष्ठ है ।

व्यक्ति की यह परतत्रता हम स्वय अपने हाथो से ही ला रहे है । जब से यह भावना पैदा हुई कि परिस्थितिया ही सबकुछ है, तब से ही व्यक्ति निर्बल हो गया है । एक पुराना मतभेद चला आ रहा है कि समय व्यक्ति का निर्माण करता है या व्यक्ति समय का । हम उनसे सहमत है, जो यह मानते है कि व्यक्ति ही समय ओर परिस्थितियो का निर्माण करता है । आज ऐसी धारणा घर कर गई है कि व्यक्ति परिस्थितियो के विरोध मे उनसे ऊपर उठने मे ही असमर्थ है । इमसे अधिक घातक और कोई विचार सम्भव नही । भौतिकवाद की मूल आधार-शिला यही है । ईश्वर और आत्मा का निपेध नही, वरन बाह्य परिस्थितियो को सर्व-शक्तिशाली मान लेना ही भौतिकवाद की आत्मा है । यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करे और फिर भी भौतिकवादी न हों । इसलिए ईश्वर की अस्वीकृति भौतिकवाद का केन्द्र-बिन्दु नही है । उसका केन्द्र तो इस आस्था मे है कि मनुष्य किसी भी स्थिति मे बाह्य भौतिक परिस्थितियो से ऊपर नही उठ सकता । वह परिस्थितियो का स्रष्टा नही है, वरन उनके हाथ मे केवल एक कठपुतली है । उसमे कोई ऐसा तत्त्व ही नही है, जो परिस्थितियो का अतिक्रमण कर सके । ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य की आत्मा का यही निपेध है । जब से यह निपेध महत्त्वपूर्ण हुआ है, तबसे व्यक्ति शून्य हो गया है । वह भी अब एक यत्र है और यत्रो के लिए स्वतत्रता मागना व्यर्थ की बात है । यत्रो को तो केवल सुविधाए चाहिए । स्वतत्रता का क्या सवाल ? और इसलिए हम निरन्तर स्वतत्रता को खोकर सुविधाओ की माग किये जा रहे है । यह माग दिन दूनी और रात चौगुनी बढ रही है । सुकरात ने कहा था—एक सतुष्ट सुअर होने की अपेक्षा असतुष्ट सुकरात होना बेहतर है । आज के अधिकाश कहे जाने वाले विचारको से हम ऐसी बात पूछे तो वे इसका उत्तर उल्टा कर देंगे । वे कहेगे—एक असतुप्ट सुकरात होने के बजाय एक सतुष्ट सुअर होना श्रेष्ठतर है । यही हमारी सदी का नारा है । सुकरात के वचन को उलट देने से हमारी आज की पूरी भाव-दशा प्रकट हो जाती है । परन्तु इससे अधिक अगौरवपूर्ण क्या और कुछ हो सकता है ? इस स्थिति को

हमारे ऊपर किसीने लादा नही है। हमने स्वय ही निर्मित किया है। पहले जब कभी कोई विजेता अथवा सर्वे-सर्वा या आततायी अपने आधिपत्य के लिए व्यक्ति की स्वतत्रता को नष्ट करता था, तब विचारक उसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाते थे। आज जब अधिकाश विचारक ही व्यक्ति को सामाजिक यत्र का एक पुर्जा प्रतिपादित कर रहे है, तब परिस्थिति सर्वथा भिन्न हो गई है। परन्तु निराशा के इस अधकार मे आशा की एक ही किरण है कि इस परिस्थिति को किसी विजेता, सर्वे-सर्वा या आततायी ने न लादकर आज के अधिकाश विचारको ने लादा है। दूसरे शब्दो मे हमने ही इसे लादा है और यदि हमने चाहा तो हम इसे नष्ट भी कर सकते हैं।

इसे नष्ट करना हो तो हमे मनुष्य को परिस्थितियो पर विजय करना सिखाना होगा। जब कोई व्यक्ति किसी बाह्य विपरीत परिस्थिति मे भी अपनेको सयमित और सतुलित पाता है तथा अनुभव करता है कि उसके भीतर कुछ है, जो कि परिस्थिति से अस्पर्शित रह गया है तभी उसे पहली बार आत्मा का अनुभव होता है। यह अनुभव ही उसे व्यक्ति बनाता है। शरीर सुविधा मागता और आत्मा स्वतत्रता चाहती है। जिन्होने मनुष्य को केवल शरीर जाना है, उन्होने बहुत सुविधाए जुटाई है और जिन्होने मनुष्य को आत्मा माना है, उन्होने मुक्ति और मोक्ष की खोज की है। ऐसे जीवन-मुक्त एक नरेश को विदेह का पद प्राप्त हुआ था और उन्होने घोषणा की थी कि यदि उनकी एक भुजा मे कोई चन्दन का लेप करे और दूसरी भुजा मे आग लगाये तो उन्हे किसी भेद का अनुभव न होगा। इस खोज को पुन मनुष्य के भीतर आरम्भ करना होगा। अध्यात्म की दिशा मे उनमे प्यास की उत्पत्ति करनी होगी। उसे उस असतोष से भरना होगा, जो कि दिव्यता की ओर ले जाता है। इस ससार मे दो प्रकार के असतोष है— एक जगत से और एक स्वय से। जो जगत से असतुष्ट होता है, वह सुविधाए खोजता है और जो स्वय से असतुष्ट होता है, वह स्वतत्रता और सत्य की खोज करता है। सत्य इसलिए कि अन्तत सत्य की उपलब्धि ही पूर्ण स्वतत्रता बन सकती है। ईसा ने कहा है—"तुम सत्य को खोजो और सत्य तुम्हे स्वतत्र कर देगा।" जो स्वय मे सत्य को जान लेता है, वह परम मुक्ति का अनुभव करता है, जिसपर कोई बन्धन नही है। ऐसे ही महाजनो ने समय

का निर्माण किया है। समय तो महान जनो का नही, तुच्छ व्यक्तियो का निर्माण करता है।

व्यक्ति को राज्य के हाथो से बचाने के लिए उसकी चेतना को सत्य के आरोहण के लिए तैयार करना होगा। वह जैसा है, उसकी कुरूपता उसके सामने प्रकट करनी होगी ताकि उसकी आखे उस ओर उठ सके, जो वह हो सकता है। ऐसे ही व्यष्टि समष्टि का उद्धार कर सकते है। ●

युद्ध का मूल कारण क्या ?

कार्ल मार्क्स के 'कैपिटल' ग्रन्थ के प्रकाशित होने के बाद और उसके पश्चात् रूस की क्रान्ति के उपरान्त व्यष्टि को गौणता और समष्टि को प्रधानता मिल गई है । मार्क्स के पूर्व भी समाजवादी विचारक न हुए हो, यह बात नही, और उन्होने भी व्यक्ति की अपेक्षा समाज को ही प्रमुखता दी थी, परन्तु इस सम्बन्ध मे ससार पर जैसा प्रभाव मार्क्स का और मार्क्स के बाद रूसी क्रान्ति का पडा, उतना इनके पूर्व नही पड़ा था ।

परन्तु न जाने क्यो, आज हम यह भूल गये है कि विश्व में विराट तल पर जो कुछ भी घटित होता है, उसकी बीज सम्भावनाए सदा व्यक्ति मे ही छिपी रहती है । वे सम्भावनाए इतनी सूक्ष्म हो सकती है कि उनका प्रत्यक्ष परिदर्शन चाहे हमे न भी होता हो, तब भी यह असम्भव है, जो समष्टि मे प्रकट होता हो, वह आधार रूप मे व्यष्टि में न हो । समाज के पास यथार्थ मे न तो कोई चेतना है और न कोई वासना । चेतना भी व्यक्ति के पास ही है और वासना भी । जिसे हम सामूहिक चेतना कहे या सामूहिक वासना, वह भी व्यक्तियो की चेतनाओ और वासनाओ का जोड होती है । समाज तो केवल जोड है । इसलिए जो भी शुभ या अशुभ समाज मे घटित होता हो, उसके मूल कारण व्यक्ति में ही खोजने होगे । जो सीधा समाज पर ही विचार करने लगते है, उनकी विचार-पद्धति कितनी ही तर्क-सगत क्यो न प्रतीत होती हो, वे आधारभूत भूल कर जाते है, क्योंकि वे समाज से व्यक्ति की ओर सोचते है, जबकि व्यक्ति से समाज की ओर सोचा जाना चाहिए । सम्यक् चिन्तन की दिशा सदा ही मूल कारण से प्रारम्भ होनी चाहिए । व्यक्ति ही इकाई है और यदि हम उसका ही पूर्ण विश्लेषण कर सके तो समाज और विश्व की सारी समस्याओ का समाधान भी मिल जायगा । आजकल राजनीतिक राज्य के तल पर, अर्थशास्त्रीय अर्थ मे नव

पर और समाजशास्त्री समाज को ध्यान मे रखकर समस्याओ का समाधान खोजते है । व्यक्ति को बिलकुल ही भुला दिया गया है । यह ऐसा ही है जैसे कोई सागर के सम्बन्ध मे गवेपणा करे और बूद को भूल जाय । जगत् के सारे जल का रहस्य बूद मे छिपा हुआ हे । बूद को भुलाकर जल के सम्बन्ध का सारा चिन्तन असत्य होगा ।

इस काल मे वैज्ञानिक क्यो सफल हुए है ? उन्होने प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध मे खोज की है । इस सम्बन्ध मे कोई सामूहिक खोज के पीछे वे नही पडे । आज विज्ञान की सारी सफलता की जड उसके आणुविक विश्लेषण मे हे । उसने प्रकृति के रहस्य को जानने के लिए क्षुद्रतम अणु को पकडा है । यदि विज्ञान अन्तिम परमाणु को जानने मे सफल हो गया तो प्रकृति के सारे रहस्य खुल जायगे । यह चाहे कुछ विरोधाभास प्रतीत होता हो, किन्तु सम्पूर्ण रूप से सत्य है । जो अत्यन्त क्षुद्र को समझ लेता है, अनन्त के द्वार उसके लिए खुल जाते हे । वैज्ञानिक पदार्थ के सम्बन्ध मे जो भूल नही करते, विचारक मनुष्य के सम्बन्ध मे वही भूल कर रहे है । यही कारण है कि जहा विज्ञान पदार्थ की समस्याओ को सुलझाने मे सफल हुआ, वही तथाकथित विचारक मनुष्य की समस्याओ को सुलझाने मे नितान्त असफल । पदार्थ-सम्बन्धी समस्याए तो सुलझ गई हे और सुलझती जा रही है, परन्तु मानव-सम्बन्धी समस्याए उल्टी उलझी है और अधिकाधिक उलझती जा रही है। पिण्ड मे ही ब्रह्माण्ड छिपा है, यह मनुष्य के सम्बन्ध मे समझने मे हम असमर्थ हो रहे है । जो आणविक विश्लेषण पदार्थ को समझने मे सफल हुआ, उस प्रकार का विश्लेषण मानव के सम्बन्ध मे हम नही पा रहे है । यही तथ्य मानवीय समस्याओ के असमाधान का मूल आधार है ।

धर्म ने मनुष्य के सम्बन्ध मे आणुविक चिन्तन किया है । वस्तुत धर्म का कोई सम्बन्ध समाज से है ही नही । उसका केन्द्र तो व्यक्ति है । व्यक्ति के परिवर्तन और दिव्यीकरण से जागतिक चेतना को बदलने का उसका विचार है । धर्म उसी प्रकार नितात वैयक्तिक है, जैसे विज्ञान आणुविक । व्यक्ति समाज का अणु है । इस अणु मे ही सारी सम्भावनाए है—घृणा की भी और प्रेम की भी, क्रोध की भी और शान्ति की भी, शोषण की भी और सेवा की भी । मनुष्य स्वविरोधी दिशाओ मे विभाजित है । उसके

भीतर दोहरे मार्ग हैं। एक मार्ग उसे पशु की ओर ले जाता है और एक मार्ग प्रभु की ओर। पशु और प्रभु के बीच मानव निरन्तर एक समान है, जो इन दोनों तटों पर जा सकता है। उसे उपयुक्त दिशा देना आवश्यक है। यदि यह दिशा न दी जाय तो वह पशु के मार्ग में ही गिर जायगा। गिर जाना सहज होता है, क्योंकि पतन सदा आसान रहता है।

इस काल में हम मनुष्य को ठीक दिशा देने में असमर्थ रहे हैं। व्यक्ति को गौण बना, समाज को ही प्रमुखता दे, वर्ग-संघर्ष आदि सिद्धांतों का प्रादुर्भाव कर हमने ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, क्रूरता आदि की ओर मानव की चेतना को मोड़ा है। इन सबका इकट्ठा परिणाम हिंसोन्मुखता है। व्यक्ति में जो पाशविक भावनाएं हैं, उनके उभड़ने से समाज और राष्ट्र के तल पर बड़े-बड़े युद्ध तक हो जाते हैं। फिर तो उसके रूप अत्यन्त विकराल दीख पड़ते हैं। वैसे ही जैसे सूर्य की एक किरण में अग्नि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु यदि बहुत-सी किरणें एकाग्र की जा सकें तो वे अग्नि को जन्म दे सकती हैं, वैसे ही व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर जो छोटी-छोटी हिंसा की चिनगारियां हैं, उनका ही समग्रीभूत रूप युद्ध का दावानल बन जाता है, और फिर इसे आधुनिक राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति की शास्त्रीय हवाएं और प्रचण्डता दे देती हैं।

व्यक्ति को परिवर्तित करना होगा। वर्ग-संघर्ष आदि सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन कर उसे प्रेम और अहिंसा की दीक्षा देनी होगी। राष्ट्रों के राजनैतिक समझौतों से युद्ध बन्द नहीं होंगे और कोई संघ तथा सम्मेलन अथवा शान्ति के लिए चलाये जानेवाले सामूहिक आन्दोलन स्थायी रूप से युद्ध से मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। इन प्रयत्नों से जो शान्ति उद्भूत होगी, वह शान्ति दो युद्धों के बीच की ही शान्ति होगी, जो कि वस्तुतः शान्ति नहीं, बल्कि आनेवाले युद्ध की तैयारी होती है। इतिहास जिन्हें शांति के काल कहता है, जिनके पास आंखें हैं, वे देख सकते हैं कि वे यथार्थ में शान्ति के नहीं, किन्तु युद्ध की तैयारी के काल थे। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि व्यक्ति के बदले बिना शांति का कोई स्थायी आधार नहीं हो सकता। व्यक्ति अहिंसा और शान्ति में दीक्षित हो, तभी विश्व युद्ध से मुक्त हो सकता है। ●

जीवन की दिशा

प्राचीन भारत मे वर्ण-व्यवस्था जन्म के अनुसार नही, कर्म के अनुसार थी, यह मेरी निश्चित मान्यता रही है और इसका अन्य प्रमाणो के साथ एक प्रमाण निम्नलिखित कथन मै मानता हू

'जन्मना जायते शूद्र सस्कारात् द्विज उच्यते।'

हमारी सस्कृति मे मनुष्य जन्म से शूद्र ही माना जाता था, चाहे उसका जन्म किसी भी वर्ण मे हुआ हो और सस्कारो से वह द्विज की सज्ञा प्राप्त करता था। यह द्विज सज्ञा उसे किन सस्कारो से मिलती थी, यह अलग बात है, परन्तु जन्म ही मनुष्य को सच्चा मनुष्य नही बनाता और सच्चे मनुष्य बनने के लिए कुछ विशिष्ट सस्कार आवश्यक होते है, यह इस कथन से सिद्ध होता है।

एक अधेरी रात्रि मे महात्मा ईसा के पास निकोडेमस नामक एक युवक पहुचा। वह आनन्द और शान्ति की खोज मे था। जब उसने ईसा से यह प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की तब ईसामसीह ने उससे कहा, "मित्र, इसके पूर्व कि तुम आनन्द को पा सको, तुम्हे अपना नया जीवन आरम्भ करना होगा।" पता नही, निकोडेमस ईसा के अर्थ को समझा या नही, पर यह सत्य है कि हम जिसे जीवन समझते है, ईसा और कृष्ण, बुद्ध और महावीर उसे जीवन नही समझते थे। उनकी दृष्टि मे जीवन के और ही अर्थ थे। जिसे हम जीवन समझते है, वह तो हमे प्रकृति से मिल जाता है। जिसे वे जीवन समझते थे, उसे सस्कार से प्राप्त करना पडता है। उस जीवन के लिए साधना करनी पडती है और जो उस जीवन को पा लेते है, उनके लिए यह जीवन एक प्रकार से मृत्यु मे परिणत हो जाता है। इसे ही ध्यान मे रखकर एक बार महात्मा ईसा ने कहा था, "मै कब्रो से तुम्हे उठाने आया हू।" और जो यह कहा जाता है कि उन्होने मुर्दो को जीवन दिया और

अन्धो को आखे, यह इसी अर्थ मे सत्य है। जो जीवन इस प्रकार के संस्कारों और साधना से उपलब्ध होता है, उसके लिए चेतना को एक विशेष दिशा मे प्रवाहित करना होगा और प्राणो को एक विशेष सकल्प मे आबद्ध। यह अन्य कोई जीवधारी नही कर सकता, मानव ही कर सकता है। ऐसे मनुष्य को शरीर, मन और समस्त इन्द्रियो को एक विशेष केन्द्र पर केन्द्रित और सन्नद्ध करना पडता है। जीवन तब अराजकतामय नही रह जाता, वरन् अनुशासनमय बन जाता है। इसमे सदेह नही कि यह दिशा बडी श्रम-साध्य है, और हो भी क्यो न, क्योकि जीवन को साध लेने से बडा और कोई ध्येय, उद्देश्य तथा कला नही हो सकती। आज जीवन के जो ध्येय और उद्देश्य निश्चित किये गए है, और ये निश्चय ही वैज्ञानिक माने जा रहे है, उनमे क्या व्यष्टि और समष्टि का सच्चा सुख बढा है? कहा जाता है, जीवन मे रोटी का प्रश्न सबसे बडा है। रोटी का सवाल एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, यह हम भी स्वीकार करते है। 'भूखे भजन न होय गोपाला', इस कहावत को भी हम ठीक मानते है, परन्तु रोटी के प्रश्न को हम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सवाल नही समझते। यदि आधिभौतिक उपलब्धिया ही जीवन को सुखी बना सकती तो निर्धन अगर उन आधिभौतिक उपलब्धियो के बिना दुखी है तो धनवान् क्यो दुखी है, जिन्हे सारी आधिभौतिक सुख-समृद्धि प्राप्त है? आधिभौतिक विकास को सर्वोपरि मान हम और सबको साधते है, परन्तु इस साधना मे हम सच्चे जीवन को छोड देते है। तब स्वाभाविक ही है कि हम सबकुछ पा ले और जो सच्चा जीवन है, उससे वंचित रह जाय। जो भी सताप, असफलता और विषाद आज के मनुष्य के मन मे दिखाई देता है, उसका यही कारण है कि हमने जीवन के सच्चे ध्येय, उद्देश्य और कला को भुला दिया है। यह कला सारी कलाओ की कला है। आज कलाए तो बहुत है, परन्तु वह कला खो गई है। समृद्धि भी बहुत है। आधिभौतिक उपलब्धियो का ठीक वितरण भी हो जायगा। शक्ति की भी कमी नही है। किन्तु इस समृद्धि के बीच मे भी मनुष्य बहुत दरिद्र हो गया है और शक्ति के शिखरों पर बैठकर भी उसकी इस असमर्थता की कोई सीमा नहीं है। बाहर सब कुछ है और भीतर नितान्त रिक्तता है। अत्यधिक खोखलेपन का मनुष्य अनुभव कर रहा है।

फ्रान्स मे और समस्त यूरोप मे एक आन्दोलन चल रहा है, जिसका नाम है आस्तित्ववादी आन्दोलन। इस आन्दोलन मे मानव-जीवन को अर्थ-हीन घोपित किया है। आज के मनुष्य को देखकर इस घोपणा का कोई अर्थ नही है, यह नही कहा जा सकता। मनुष्य जैसा है, यदि उससे वह अन्यथा न हो सके तो फिर ये लोग जैसा कहते है, ठीक ही कहते है, किन्तु हम मानते है कि मनुष्य अन्यथा हो सकता है। चिन्ता, विषाद और सताप उसका स्वभाव नही है। जैसे कोई बीमारो का अध्ययन कर मनुष्य का कोई निर्णय करे तो वह निर्णय असत्य होगा, क्योकि रुग्णताए मनुष्य के स्वरूप नही, विकृतिया है। इसी प्रकार चिन्ताए, विपाद और सताप भी है। ये मन के अस्वस्थ रूप है। आध्यात्मिक रिक्तता का वोध उन सबका समग्री-भूत प्रभाव है। यदि मनुष्य आध्यात्मिक सस्कारो और साधनाओ द्वारा शिक्षित नही किया जायगा तो उसके भाग्य मे कुठाओ के अतिरिक्त और कुछ होना असम्भव भी नही है।

मनुष्य तो जन्म से शूद्र ही है। यहा हम 'शूद्र' शव्द व्यापक अर्थ मे ले रहे है। आज की वर्ण-व्यवस्था मे जो इस शब्द को जातीय अर्थ मिल गया है, उस अर्थ मे नही। सस्कारो से ही वह द्विज होता हे और सस्कार तथा द्विज शव्दो का व्यवहार भी हम व्यापक अर्थ मे कर रहे है। जन्म से मनुष्य अनगढ पत्थर के समान है। वह जैसा है, उसे वैसा ही नही मान लेना चाहिए। उसे तो निर्मित करना होगा और तभी वह पत्थर मूर्ति का रूप धारण कर सकता है। पत्थर मे मूर्ति छिपी होती है, किन्तु जबतक शिल्पी उसे उभाडे नही तवतक उसके दर्शन नही होते। मनुष्य के सम्बन्ध मे यह कहना और भी उपयुक्त होगा कि पत्थर भी वही है, शिल्पी भी वही है और मूर्ति भी वही है। उसे अपना आविष्कार स्वय ही करना होता है। वाहर से मार्ग-दर्शन हो सकता है, किन्तु आरोपण नही। जड पर आरोपण हो जाता है, किन्तु चेतन पर और उस चेतन मे भी मानव पर तो आरोपण असम्भव है। मनुष्य को भीतर से जगाना है। उसे ऐसी व्यवस्था देना आवश्यक है जो शुभ है और सुन्दर है। इसका उसमे अकुरण करना होगा। प्रेम को, शान्ति को और अन्त सगीत को उसमे पैदा किया जा सकता है। इन सबका जोड ही आनन्द वन जाता है। और तव न तो भीतर रिक्तता मालूम होती है

और न बाहर अर्थहीनता के दर्शन होते हैं। ऐसे आनन्द का जागरण पहले व्यक्ति के हृदय को एक आन्तरिक समृद्धि से भर देता है और ऐसे व्यक्तियों का जोड़ समाज है।

किन्तु हम तो केवल आधिभौतिक विज्ञान कर आजीविका सिखा रहे हैं। जीवन सिखाने की ओर हमारी कोई रुचि नहीं है। यह भूल मनुष्य को नष्ट कर रही है। हम कहने मात्र को ही चेतन मनुष्य रह गये हैं, अन्यथा हम जीवन की दृष्टि से एक खण्डहर के तुल्य हो गये हैं। किसी ठीक ध्येय, उद्देश्य और जीवन की कला बिना हमारी यह स्थिति हुई है। स्मरण करें बुद्ध का जीवन, जो सब छोड़ सत्य को, और सत्य जीवन को पाने गये, या महावीर अथवा अन्य इसी प्रकार के त्यागी जीवन को, या विदेह जनक के जीवन को, जो सबकुछ भोगते हुए भी सच्चा जीवन जिये। बुद्ध और महावीर भिखारी थे, किन्तु भीतर उन जैसा समृद्ध जीवन कभी देखा न गया। विदेह जनक आधिभौतिक दृष्टि से सम्पन्नता के शिखर पर थे। इतने पर भी उससे अलिप्त रहे। इस प्रकार के जीवनों पर विचार करने पर हमारे जीवन खण्डहर ही तो ज्ञात होंगे। जो इन सबके भीतर था, उसकी सारी सम्भावना हमारे भीतर भी है। मूलतः हम भी वही हैं। अन्तर इतना ही है कि उन्होंने जीवन को सीखा और हम जीवन से अपरिचित हैं। मात्र जी लेना ही जीवन नहीं है। जीवन उससे बहुत ऊपर है और केवल वे ही उसे जान पाते हैं, जो स्वयं में प्रवेश करते और स्वयं का साक्षात करते हैं। ●

१३

काम-साहित्य या राम-साहित्य

समाज का शरीर तो व्यक्तियो से बनता है, किन्तु उसकी आत्मा विचारो और भावो से निर्मित होती है। व्यक्ति सदा बदला करते है, किन्तु विचार शाश्वत रहते है। विचारो की शक्ति व्यक्तियो की शक्ति से कही बडी है।

मनुष्य की उत्पत्ति कब हुई, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित बात नही कही जा सकती। उत्पत्ति के बाद उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सबध मे भी मतैक्य नही है। परतु पहले लेखन-कला नही थी और मनुष्य कुछ कहकर ही अपने विचार व्यक्त करता था। ससार का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है और चूकि उस समय जब वेदो का प्रादुर्भाव हुआ, लेखन-कला का अस्तित्व नही था, वेद कहे गये और सुने गये। इसीलिए वेदो का दूसरा नाम श्रुतिया है। वे पीढी-दर-पीढी बोले जाते थे, सुने जाते थे और कठस्थ किये जाते थे। इसके बाद जबसे लेखन-कला निकली तबसे तो विचारको के विचार लिखे जाने लगे और इसका महत्वपूर्ण भाग लिखित रूप से सुरक्षित है। हजारो वर्ष पूर्व जो लोग रहे होगे, हम उन्हे नही जानते, किन्तु उन्होने जो विचार किया था, उसकी प्रतिध्वनि से आज भी हमारे प्राण ध्वनित है। भूत, वर्तमान और भविष्य का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि हम वर्तमान मे न भूत से मुक्त हो सकते है और न भविष्य के चिन्तन से। वर्तमान का अस्तित्व तो एक क्षण भी नही रहता। जिस क्षण की कोई बात बीत जाती है, वह भूत की सज्ञा मे आ जाती है और उस बीती हुई बात पर जो चिन्तन होता है, वह भविष्य की सज्ञा मे चला जाता है। आज हम जो विचारते है, वह भूत के विचारको के विचारो से नितान्त मुक्त नही हो सकता। विचार एक परम्परा है, वह किसी व्यक्ति विशेष का नही होता। उसमे तो हजारो मनो की मेधा का दान होता है। वह व्यक्तिगत मेधा तो विलीन हो जाती है, किन्तु उनके विचार और भाव रह जाते है। इन विचारो

और भावों की बड़ी शक्ति है । वे भूत के होते हुए भी वर्तमान और भावी जीवन को गति देते हैं और गन्तव्य भी । यथार्थ में उनके सूक्ष्म स्पन्दन ही हमें परिचालित करते हैं । जो हम आज विचार करते हैं, उसी विचार के अनुरूप कल हम अपने को पाते हैं । विचार में जो अंकुरित होता है, वही भविष्य में आचरण बन जाता है । विचार ही व्यक्तियों को ढालते और निर्मित करते हैं और जैसे व्यष्टि होते हैं, वैसी ही समष्टि का निर्माण होता है । इसलिए विचारों और भावों की कैसी शक्तियों को हम समाज में उन्मुक्त कर रहे हैं, यह सदा अत्यधिक विचारणीय है ।

साहित्य विचारों और भावों को उन्मुक्त करने का माध्यम है । उसमें शुभ या अशुभ दोनों ही फलित हो सकते हैं । साहित्य अतीत से प्रभावित होता है और भविष्य को प्रभावित करता है । वह एक अनन्त शृंखला का अंग है । अतीत की वसीयत उसके ऊपर है और भविष्य का दायित्व । इन दो कगारों के बीच ही साहित्य की सरिता बहती है । किन्तु इस युग में एक अघटित घटना घटी है । जिसे आज हम साहित्य कह रहे हैं, स्वतन्त्रता के नाम पर उसने अतीत से अपने सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिये हैं और भविष्य के प्रति अपना समस्त दायित्व छोड़ दिया है । ऐसा साहित्य सरिता की शान्त धारा नहीं रहा, बल्कि वर्षा की बाढ़ हो गया है । वह कगारों और तटों को छोड़कर बह रहा है । उसकी गति सत्य के सागर की ओर न होकर कहीं भी बिना किसी विशिष्ट दिशा के हो रही है । स्वभावतः वह प्राणों का संवर्द्धक न होकर संघातक हो गया है । उसके द्वारा पैदा की जा रही विचारों और भावों की सूक्ष्म तरंगें मंगल सिद्ध न होकर, अमंगल ही सिद्ध हो रही हैं । उसकी उपादेयता व्यक्ति के जीवन और जीवन की चरम दृष्टि से कुछ भी नहीं रह गई है । जो व्यष्टि का कल्याण करने में असमर्थ है, उसके द्वारा समष्टि का कल्याण कैसे हो सकता है, क्योंकि समाज तो व्यक्तियों का ही जोड़ है । जो साहित्य अतीत के प्रति आदर नहीं रखता और भविष्य के लिए चिन्ता नहीं करता, स्वभावतः वर्तमान के लिए वह अनुपादेय हो जाता है, क्योंकि वर्तमान तो अतीत और भविष्य के बीच का एक छोटा-सा क्षण है । भूत और भविष्य को भुलाने पर वर्तमान उसके हाथों में नहीं रह सकता । यथार्थ में समय की धारा अविभाज्य है । वस्तुतः इसमें

कोई खण्ड नही है । जिसकी निष्ठा वर्तमान के मगल के लिए होगी, वह अनिवार्यत भूत के प्रति श्रद्धा और भविष्य के प्रति दायित्व का अनुभव करेगा । आज का साहित्य इस तरह की निष्ठा को अपनी आत्मा स्वीकार नही करता ।

साहित्य की यह दशा अत्यन्त शोचनीय है । ऐसा साहित्य आत्मा का उन्नायक तो बनता ही नही, वरन मन का अत्यन्त निम्न और भ्रष्ट रजन होकर ही रह जाता है । उसकी पकड एन्द्रिक से अधिक नही हो पाती । उसका केन्द्र काम हो जाता है । मानव-जीवन के दो ही प्रधान केन्द्र है— राम और काम । जो काम की उपासना करता है, वह राम से वञ्चित रह जाता है । काम क्षणिक है, इसलिए उसपर केन्द्रित साहित्य भी सामयिक होता है । राम की अनुभूति शाश्वत है । उससे अनुप्रेरित साहित्य स्थायी और सनातन हो जाता है । आज का साहित्य राम से शून्य है और यही कारण है कि वह उन प्रेरणाओ को पैदा करने मे असमर्थ है, जो कि व्यक्ति के जीवन को उदात्त बना सके । बिना व्यक्ति के उदात्त बने समाज उदात्त बन ही नही सकता । ऐसे साहित्य से पैदा हुई सारी प्रेरणाए व्यष्टि और समष्टि को नीचे-से-नीचे की ओर ले जाती हैं। प्राय देखा जाता है कि व्यक्ति अपने अध पतन मे कोई-न-कोई और किसी-न-किसी प्रकार का समर्थन पा लेने का इच्छुक रहता है । मैने अपने जेल-जीवन मे कैदियो की इस प्रकार की मनोवृत्ति का खूब निरीक्षण किया है । जब साहित्य से भी ऐसी वृत्तियो का समर्थन मिल जाय, तब तो पूछना ही क्या ? इस प्रकार का समर्थन पाने के कारण आज व्यक्ति को अपने पतन की आत्म-आलोचना उपलब्ध नही होती । साहित्य वही श्रेयस्कर है, जो व्यक्ति को आत्म-आलोचना दे, जिसके प्रकाश मे वह अपनी वास्तविकता को पहचान सके और उन आदर्शो से अपनी तुलना कर सके, जो यदि वह चाहे तो स्वय बन सकता है । सत्साहित्य का लक्षण है कि हम जैसे हैं, उसकी आलोचना कर हम जैसे हो सकते है, उसके लिए हमारे मन मे आकर्षण की उत्पत्ति करे। असत्साहित्य हम जैसे है, उसका समर्थन करता है और हम उससे अन्यथा भी हो सकते है, इसके कोई स्वप्न और आदर्श उससे पैदा नही होते ।

व्यष्टि और समष्टि की मूलभूत क्रांति के लिए साहित्य की पूरी रेखा

बदलनी होगी। उसका पूर्ण कायाकल्प करना होगा। काम के केन्द्र से मुक्त कर उसे राम की ओर घुमाना होगा। तभी हम उन कल्याणकारी आधारों को रख सकेंगे, जिनके ऊपर मनुष्य का ध्वस्त हुआ मंदिर पुनः खड़ा किया जा सके। ऐसे विचारों और भावों की आंधियां चाहिए, जो व्यक्ति के हृदय में इकट्ठे हुए और समाज में फैले हुए कूड़े-करकट को उड़ा ले जायं और ऐसे बादलों को ले आयें, जिनसे शुभ जीवन के बीजों की वर्षा हो सके। साहित्य यह कर सकता है और यदि मनुष्य को बचाना है, तो उसे यह करना होगा। साहित्य में ही मानव में होनेवाली क्रान्ति की सारी सम्भावनाएं छिपी हैं। ●

क्या दृश्य ही सबकुछ है ?

अपनी आखो से हम जो कुछ देखते है, और कानो से जो कुछ सुनते है, अर्थात् दृश्य-जगत उसकी तत्काल और सहज अनुभूति के कारण हम वही तक सीमित रह जाते है और मान बैठते है कि इतना ही सबकुछ है । फिर आधुनिक काल के अधिकाश विचारको ने यही सबकुछ है, इसपर मुहर लगा दी है और भौतिकवाद का एक दर्शन ही निर्मित हो गया है । पहले भौतिक दर्शन नही था, यह नही, परन्तु भौतिकता के अलावा भी कुछ है, यह विद्वानो ने माना था । इतना ही नही, भौतिकता के परे जो कुछ है, उसको अधिक महत्व दिया था । चार्वाक के सदृश्य केवल भौतिकवादी भी कुछ दार्शनिक हुए थे, परन्तु उनकी सख्या और स्थान दोनो ही नगण्य थे ।

इस जगत् मे जो दिखाई पडता है, वही यथार्थ मे सबकुछ नही है, वरन् जो दिखाई नही पडता, वह दिखाई पडनेवाले से कही अधिक है। उसकी भी सत्ता है और उसकी केवल सत्ता ही नही है, बल्कि समस्त सत्ता का वह मूलाधार है। इस अदृश्य पर यदि हमारी दृष्टि न हो तो केवल दृश्य को देखकर जो जीवन-दर्शन हम बनाते है, वह सदा ही अधूरा और अपूर्ण होगा । उसमे सार छूट जायगा और निस्सार ही मुट्ठी मे रह जायगा । जैसे कोई गेहू पर विचार करता हो और भूसे पर ही उसका चिन्तन रुक जाय तो जैसी भूल होगी, वैसी ही जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे उनसे हो जाती है, जो दृश्य पर ही ठहर जाते है और जिनकी दृष्टि अदृश्य तक नही पहुच पाती ।

मनुष्य मे दोनो तत्त्व है—दृश्य भी, अदृश्य भी। जो दृश्य है, उसे दूसरे भी देख पाते है, किन्तु जो अदृश्य है, उसका अनुभव तो स्वय को ही हो सकता है। दूसरो की आखे जितना हमे देख पाती है या हमारी आखे जितना दूसरो को, उतने को ही स्वीकार करना भौतिकवाद है। स्वय मे ही जो भौतिकता के परे अनुभव किया जाता है, उस अलौकिक की अनुभूति को स्वीकार करना

अध्यात्म है। जो व्यक्ति बाहर ही देखते रहते हैं और कभी भीतर की ओर नहीं देखते, वे जीते तो हैं, किन्तु उनका कोई यथार्थ जीवन नहीं होता। यह हो सकता है और हुआ है कि आधिभौतिक दर्शन उनकी भौतिकवादी अवस्था को ही उनका जीवन-दर्शन कहे, लेकिन हम उसे जीवन-दर्शन इसलिए कहने मे असमर्थ हैं, क्योंकि जो स्वयं की अन्त सत्ता को नही जानता, वह सच्चे जीवन से परिचित ही नही हो पाता। शरीर के अतिरिक्त अथवा दृश्य-जगत् के अतिरिक्त जिसे और किसी तत्त्व का ज्ञान नही है, उसका सम्बन्ध जीवन मे न होकर, मृत्यु से ही है। शरीर मरणधर्मा है। समस्त दृश्य-जगत् भी अनित्य है। यदि कोई बहुत गहराई से देखे तो शरीर मृत ही है, उसमे जो जीवन दिखाई पडता है, वह यथार्थ मे उसका नही है, वह तो किसी अन्य तत्त्व के सान्निध्य से से उसे उधार मिलता है। कंडील का काच जैसे प्रकाश को विकीर्ण करता मालूम होता है, किन्तु वह प्रकाश उसका नही होता, वैसे ही शरीर से जो जीवन प्रकट होता है, वह शरीर का नहीं, शरीर के पीछे छिपी किसी अन्तर-ज्योति का है। वही जीवन का यथार्थ स्रोत है, वही सच्चा जीवन है। जो उसे जानता है और उसके आलोक मे स्वयं को निर्मित करता है, केवल उसी का कोई जीवन-दर्शन हो सकता है। भौतिकवाद को जीवन-दर्शन कहना, दर्शन के साथ एक प्रकार का खिलवाड है। इसे खेल इसलिए कहते हैं, क्योंकि सच्चे जीवन-दर्शन के अभाव को यदि हम जीवन-दर्शन कह दें, तो वह दर्शन के साथ खिलवाड नहीं तो और क्या है? जो व्यक्ति मात्र जी रहा है और जीवन को जान नहीं रहा, उसकी न तो कोई सच्ची दृष्टि है और न कोई सच्चा दर्शन। उसकी तथाकथित विचारसरणी को दर्शन नाम देना, वैसे ही है, जैसे किसी व्यक्ति की आखे न हो और हम उसे अन्धी आखोंवाला व्यक्ति कहे। अधी आख स्वविरोधी कथन है। वैसा ही भौतिकवादी जीवन-दर्शन। आखे अधी नही हो सकती और जिन आखो मे अधापन हो, उन्हे आख कहना व्यर्थ है। वैसे ही जीवन-दर्शन हो तो वह भौतिकवादी नही हो सकता और भौतिकवादी हो तो उसे जीवन-दर्शन कहने मे कोई तथ्य नहीं। सच्चे जीवन-दर्शन का प्रारम्भ ही उस बिन्दु से होता है जहा हम प्रकृति से, शरीर से, दृश्य जगत् से ऊपर उठने के लिए सन्नद्ध होते है। प्रकृति ने जितना दिया है, उतने मे तो पशु भी जीते है। उसके अतिक्रमण की आकाक्षा और साधना से मनुष्य मनुष्य

जीवन-दर्शन को उपलब्ध करना आरम्भ करता है और यह केवल मानव ही कर सकता है, अन्य कोई प्राणी नही, और मानव को जो ज्ञान-दृष्टि मिली है उसके कारण ।

प्रकृति दृश्य है और परमात्मा अदृश्य। दृश्य सभीकी उपलब्धि है। अदृश्य की अनुभूति के लिए मानव को भी स्वय तैयार करना पडता है। इस तैयारी की विधि ही सच्चा धर्म हे । स्मरण रहे कि अदृश्य की प्रथम अनुभूति स्वय मे ही होती है, उसका अनुभव स्वय के अतिरिक्त और कही नही हो सकता । जब कोई उसे स्वय मे जान लेता है तो सर्व मे भी अनुभव कर पाता है । उस दृश्य की स्वय अनुभूति का नाम आत्मा है और सर्व मे साक्षात् का नाम परमात्मा हैं। स्वभावत धर्म अत्यन्त वैयक्तिक है। वाह्य जगत् से स्वय को तोडकर, इन्द्रियो के सारे व्यापार को शून्य कर, मन के समस्त ऊहापोह से मुक्त हो, जब कोई व्यक्ति स्वय के चैतन्य तत्त्व मे प्रतिष्ठित होता है, तव दृश्य के परे अदृश्य के अनुभव को पाता है। यही सच्चे जीवन की अनुभूति हे । इस जगह उसे कोई मृत्यु दिखाई नही पडती । जो तत्त्व यहा दिखाई पडता है, वह अमृत है। इसे जानकर ही सत्य को, शिव को और सुन्दर को जाना जाता है, और जो उन्हे जान लेता है वह स्वय सत्य, शिव और सुन्दर हो जाता है। ●

१५

आधुनिक मनुष्य और धर्म

यह मानना ही होगा कि संसार में जितनी आधिभौतिक उन्नति और उपलब्धियां आधुनिक काल में हुई है, उतनी शायद इसके पहले कभी नहीं हुई थी और इस उन्नति और उपलब्धियों के बावजूद व्यष्टि और समष्टि के रूप से कहीं भी संतोष और शांति दृष्टिगोचर नहीं होती। एक ओर व्यष्टि का जीवन अशांति से ओतप्रोत है तो दूसरी ओर समष्टि के जीवन में हर स्थान पर हर प्रकार का संघर्ष परिलक्षित हो रहा है, यहांतक कि तीसरे विश्वव्यापी युद्ध के भयावह आतंक से समस्त संसार कांप रहा है।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य खो गया है। ऐसा जान पड़ता है कि मानव जीता है, क्योंकि उसे जीना पड़ता है। उसके समग्र जीवन का कोई स्पष्ट उद्देश्य न उसके सामने है, न उसे उसकी प्रतीति ही होती है। जो काम उसके सामने आता है, वह कर देता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह क्षणजीवी है, पर उसके अन्दर जीवन की कोई ऐसी अंतरधारा नहीं है, जिससे उसे सच्चा संतोष और सच्ची शांति प्राप्त हो सके। दृष्टांत के लिए समाज में जिनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है, उन राजनैतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक महापुरुषों तक के जीवन को ले लीजिये। ऐसे अधिकांश लोगों की उपलब्धि भी वह उपलब्धि है, जो बाह्य जगत से सम्बन्ध रखती है, उनके अन्दर से नहीं। इसलिए जब वे जाते हैं तो खाली हाथ अर्थात अशांत। और ऐसे ही लोगों के लिए, खाली हाथ आने और खाली हाथ जानेवाली कहावत चरितार्थ होती है। जिसे आत्मतृप्ति कहते हैं, वह उन्हें प्राप्त नहीं होती। बाह्य उपलब्धियां जो कर्म से सम्बन्ध रखती हैं, आत्मजीवन से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। कभी-कभी ऐसा व्यक्ति देखा जाता है, जिसे कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाली बाह्य उपलब्धियां भले ही न हुई हों, पर वह व्यक्ति संतोष, शांति और आनंद को प्राप्त कर लेता है। ऐसे व्यक्ति

आज क्वचित ही दृष्टिगोचर होते है, और व्यष्टि रूप से इस सतोष, शाति एव आनन्द का अभाव हो गया है, तब समष्टि रूप से यदि ये दिखाई न दे तो इसपर आश्चर्य नही होना चाहिए। आखिर व्यष्टि ही तो समष्टि का पूरक है। एक है तो अनेक हैं, एक नही तो शून्य के सदृश्य।

उपलब्धिया दो प्रकार की होती है। एक बाह्य और दूसरी आतरिक। बडी-से-बडी बाह्य उपलब्धिया भी आतरिक सतोष, शाति और आनद का हेतु नही बन सकती। बाहर की जो उपलब्धिया है, वे भीतर की दरिद्रता को भुलाये रखती है, पर मिटाती नही। इसका अनुभव असफलताओ, आपदाओ, अनिष्टकर घटनाओ और विषाद आदि के अवसरो पर होता है। मेरे कनिष्ठ पुत्र जगमोहन दास की मृत्यु से मुझे इसका व्यक्तिगत अनुभव हुआ। मुझे राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्रो मे कम उपलब्धिया नही हुई, परन्तु जब यह दैवो प्रहार हुआ तब जान पडा कि आत्मिक शक्ति तथा आत्म-विकास के साधनो के अभाव मे यश, ऐश्वर्य की ये सब उपलब्धिया नितान्त निकम्मी है। और जो अनुभव मुझे हुआ वह अनेको को होता होगा। इस प्रकार आधुनिक मनुष्य का सबध केवल बाहर से हो गया है। उनका न कोई लक्ष्य है, न उद्देश्य और न उसे प्राप्त करने के लिए उसके पास कोई साधना। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा युग सब प्रकार की सुविधा-समृद्धि आदि साधनो को पाकर भी मानवी दृष्टि से दयनीय हो गया है। ऐसा जान पडता है, मनुष्य ने अपना सारा गौरव और गरिमा खो दी है।

यह युग वैज्ञानिक युग कहा जाता है और एकागी जान पडता है। विज्ञान ने कितनी बाह्य सुविधाओ को जुटाया है और वह इसमे निरतर वृद्धि करता जा रहा है, परन्तु वह सब आन्तरिक सतोष, शाति और आनन्द के बिना अधूरा है। हम वैज्ञानिक उपलब्धियो से समृद्ध हो रहे है, ये उपलब्धिया हमे भौतिक दृष्टि से समृद्ध बना रही हे हमारे सुख-साधन बढा रही है, किंतु हम अनुभव कर रहे है कि इस उन्नति, उपलब्धि और सुख-समृद्धि, इस अभि-वृद्धि के बावजूद हमारी भूख बढ रही है, हम सदा अतृप्त ही रहते है और कहना चाहिए हमारे सतोष और शाति की सपदा मे वृद्धि के बदले उल्टा ह्रास ही होता हमे दिखाई देता है। इसकी वजह क्या है।? विचार से जान पडता है कि हम आचार-धर्म की अपेक्षा व्यापार-धर्म मे अधिक प्रवृत्त हो गये हैं।

अपनी आंतरिक सत्ता से अभिमुख हो हम बाह्याडंबर और बाह्य उपलब्धियों के पीछे पड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने पार्थिव देह का मल तो धोते हैं, उसे वस्त्रादि से अलंकृत करते हैं, किंतु अपनी आंतरिक पवित्रता की ओर ध्यान नहीं देते। यही नहीं, उसके परिमार्जन अथवा विकास की ओर हमारा कभी ध्यान ही नहीं जाता।

बाह्य उपकरणों और बाह्य सत्ता को तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु अपनी आन्तरिक सत्ता को, जो हमारे शांति और संतोष का वास्तविक सूत्र है, हम भुलाये बैठे हैं। संक्षेप में, हम लक्ष्य से विचलित हो गये हैं, हमें बाह्य लक्ष्य के साथ अपने आंतरिक लक्ष्य को भी प्राप्त करना होगा। जिस प्रकार बाह्य उपलब्धियों अथवा लक्ष्य की प्राप्ति का साधन कर्म है, उसी प्रकार आन्तरिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन धर्म है। इस वैज्ञानिक युग का मनुष्य केवल बाह्य सुविधाएं जुटाने में ही संलग्न है और सबकुछ पाकर भी उसने स्वयं को खो दिया है। व्यष्टि और समष्टि दोनों ही दृष्टियों से जितना उसने पाया है, उतना ही अधिक अपने-आपको खोया है।

यहां धर्म शब्द का उपयोग 'रिलीजन' अथवा मजहब के रूप में नहीं कर रहा हूं। लेकिन उस व्यापक रूप में कर रहा हूं, जिस रूप में उसका उपयोग भारतीय संस्कृति में हुआ है, अर्थात "धारयति इति धर्मः।" जो धारण करता है वह धर्म है और इस धारणा का सम्बन्ध मानव की चेतना से है। अतः धर्म भी एक प्रकार का विज्ञान है। धर्म का अर्थ यहां हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम अथवा किसी भी सम्प्रदाय तक सीमित नहीं। जिस प्रकार विज्ञान न हिन्दू होता है, न मुसलमान, उसी प्रकार धर्म भी न हिन्दू है, न मुसलमान, न ईसाई। जिसे आधुनिक युग में विज्ञान कहा जाता है उसका सम्बन्ध है पदार्थ से। धर्म का सम्बन्ध है आत्मसत्ता से। विज्ञान अपनी खोज से अणुशक्ति पर पहुंचता है, धर्म अपनी खोज से आत्मशक्ति पर। स्पष्ट है, अणुशक्ति से आत्मशक्ति कहीं अधिक सशक्त, सशक्त और महान् है। आखिर अणु-शक्ति एक निर्जीव पदार्थ के प्रसार का परिणाम है तो आत्मशक्ति चेतन शक्ति के संचार, संगठित, सजीवित और सुदृढ़ स्वास्थ्य का परिणाम। फिर अणुशक्ति का आविष्कर्ता, निर्माता, अधिष्ठाता भी तो आत्मशक्तिवाला ही है। विज्ञान अपने विश्लेषण में शून्य को पाता है और धर्म अपने विश्लेषण

से विराट को। जो वस्तु क्षुद्रता की जनक है, उससे महानता की आशा कैसे की जा सकती है ? जिस प्रकार बुरे साधन से अच्छे नतीजे पर नही पहुचा जा सकता, उसी प्रकार विज्ञान से भले ही हमारे आधिभौतिक सुख, साधन बढ जाय, पर हम उससे वास्तविक आनद को प्राप्त नही कर सकते, जिससे हमारा अन्तस् का सम्बन्ध है। इसी प्रकार जीवन के क्षेत्र मे विज्ञान कोई कारगर समाधान नही है। अकेला विज्ञान मनुष्य को सभ्य भले ही बनादे, सस्कृति उसके पास नही होगी। विज्ञान से सभ्यता बनती है, पर सस्कृति का निर्माण तो धर्म ही-करता है। इस प्रकार जीवनरूपी गाडी के दोनो चक्रो को समान गति प्रदान करने के लिए मानव-जीवन मे दोनो का उचित सम्मिश्रण होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा जीवन एकरुखा हो जायगा।

मनुष्य जैसा पैदा होता है, सामान्यत आतरिक दृष्टि मे वह वही रह जाता है। विज्ञान से अथवा उसके अन्य उपायो से वह पदार्थो की उपलब्धि की दृष्टि से कितना ही आगे क्यो न बढ जाय, किंतु आत्मज्ञान की दृष्टि से तो वह एक पग भी आगे नही बढता। आन्तरिक उपलब्धियो के सम्बन्ध मे आज का मानव प्राय वैसा ही है जैसा प्रकृति उसे पैदा करती है। उस दिशा मे वह कोई काम नही करता। उसका सारा काम बाह्य क्षेत्र मे ही होता है और वह स्वय भी बाह्य जगत से ही अधिक प्रीत करता और प्रभावित रहता है। धर्म आन्तरिक जगत मे वह कैसे विकसित हो, इसकी पद्धति और प्रक्रिया का निर्देश करता है, इस सबध मे उसका पथ-प्रदर्शन करना है। ऐसे वैज्ञानिक, शुद्ध धर्म को यदि मनुष्य मे जागृत और प्रतिष्ठित नही किया गया तो वह अन्त मे बहुत दूर तक खोखला तो हो ही गया है, भविष्य मे उसे बचाया तक न जा सकेगा। यदि व्यष्टि, जो समष्टि का सूत्र है, ठीक नही होता तो समाज के समष्टि रूप से ठीक होने की सभावना तो हो ही नही सकती। नाना प्रकार के सघर्षो और युद्ध के रूप मे जो आत्मघाती प्रवृतिया प्रकट हो रही है और तृतीय विश्वयुद्ध के रूप मे जो सभावनाए ससार के सम्मुख खडी है, उसका आधार-भूत कारण व्यष्टि और समष्टि का धर्म-विरत होना ही है। यही उसके वैर, विरोध, ईर्षा, घृणा, विद्वेष, रोष, क्रोध और हिंसा आदि पाशविक प्रवृतियो का कारण है। इन सघर्षो और युद्धो का जो केवल राजनैतिक और आर्थिक कारण माना जा रहा है, वह गलत है। गहराई मे जाने से स्पष्ट हो जाता है

कि उसका कारण उसका धार्मिक न रह जाना है। जो धार्मिक नही हैं, उनके जीवन मे वैर, विरोध, ईर्ष्या, घृणा, विद्वेष, रोष, क्रोध और हिंसा सहज ही फलित होगे और जो धार्मिक हैं, उनके जीवन मे प्रेम, सद्भाव, करुणा, दया और क्षमा आदि सद्गुणो का सहज आविर्भाव होगा।

मनुष्य के भीतर जो विसगति की स्थिति है, अर्थात उसके भीतर जो स्व-विरोधी वृत्तिया है और वासनाओ की अराजकता है, उसका चित्त, सतोष शाति और आनद से भरा हुआ न होकर कोलाहलपूर्ण है, इस सबका मूल कारण है आत्म-अज्ञान, अर्थात् हम अपनेको ही नही जानते, तब यह कैसे समझ सकते है कि हममे और दूसरो मे कोई भेद है ही नही और यह समस्त सृष्टि एक ही तत्त्व है। बिना धर्म के जिस चेतना का हमारे भीतर आवास है, उसका हमे परिचय नही मिल सकता। धर्म आत्मज्ञान की विधि है, जिससे हमे अपना यथार्थ ज्ञान हो जाता है। और इस विधि के द्वारा जो स्वय को जान लेता है वह समस्त सृष्टि को जान लेता है, क्योकि उसमे और समस्त सृष्टि मे कोई अतर है ही नही। स्वय को जानने के लिए व्यक्ति को अपने भीतर एक विभाजन करना होगा। यह विभाजन इस बात का कि उसकी आत्मा क्या है, और उसकी देह क्या है, क्योकि मनुष्य मे प्रकृति भी है और परमात्मा भी। मनुष्य एक द्वैत है, प्रकृति और परमात्मा का। व्यष्टि और समष्टि का भी यह सबध है। जिस प्रकार प्रकृति और परमात्मा रूप से हम पृथक हो ही नही सकते, उसी प्रकार व्यष्टि समष्टि से भिन्न अपने अस्तित्व की कल्पना नही कर सकता। दोनो एक-दूसरे के पूरक है, अविभाज्य और अनिवार्य अग है। आत्म-अज्ञान मे हम प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझे रहते है, अपने परमात्मा स्वरूप को भूला बैठे है। चूकि विज्ञान प्रकृति के ऊपर नही उठ सकता, इसलिए आत्मा को जानने का उसके पास कोई साधन नही है। इसलिए जिन वैज्ञानिको ने यह बात कही है कि आत्मा नही है उन्होने कोई वैज्ञानिक बात नही की है। उनका यह कहना ऐसा है जैसे आख कहे कि ध्वनि होती ही नही, क्योकि नेत्र ध्वनि का अनुभव नही कर सकते। आख की अपनी सीमा है, कान की भी अपनी सीमा है और अन्य इन्द्रियो की भी अपनी सीमाए है, और इन्द्रियो की सीमा है वही विज्ञान का क्षेत्र है, अर्थात् जो ऐन्द्रिक है वह विज्ञान है। मनुष्य के भीतर

इद्रिया तो केवल माध्यम है। उनका जाननेवाला पृथक और अलग है। आख स्वय नही देखती। वह देखने का उपकरण मात्र है। देखनेवाला पृथक और अलग है। सब इद्रियो के पीछे जो सत्ता है उसीका नाम आत्मा है। इस आत्म-तत्त्व की जानकारी और परिचय के लिए हमे अपने ही भीतर देखना, खोजना है। जिस प्रकार भोजन बनाने के लिए लकडी, चूल्हा, पानी और अन्न आदि साधन गौण है, किंतु मुख्य साधन अग्नि है उसी प्रकार पूजा-पाठ, ध्यान-जप, तप ये सभी साधन गौण है, मुख्य साधन ज्ञान है। अपने आत्मस्वरूप को हमे अपने इसी ज्ञान की ज्योति मे देखना है, पहचानना है, उसका अनुभव करना है। सब इद्रियो को निस्पन्द, शून्य करके सब इद्रियो की क्रिया का निरोध करके इस आत्मा को जाना जाता है। पतञ्जलि ने इसीलिए "चित्तवृत्ति निरोधक" चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा है। जब चित्त की सब वृत्तिया निरुद्ध हो जाती है और मन शुद्ध, बुद्ध और शात हो जाता है तभी व्यक्ति स्वय को जानता है, और स्वय से परिचित होता है। तभी उसे आत्म-बोध हुआ अथवा उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया, ऐसा माना जाता है। इस आत्म-परिचय या आत्म-ज्ञान से ही, जैसे प्रकाश से अधकार, सर्दी से गर्मी, ज्ञान से अज्ञान, विद्या से अविद्या का नाश हो जाता है, उसकी समस्त अशुभ वृत्तिया क्षीण हो जाती है और तभी उसके जीवन मे सतोप शाति और आनद का स्फुरण होता है। तब वह जानता है कि जो उसके भीतर है, उसकी मृत्यु नही। उसके सब भय विलीन हो जाते हे, विषाद मिट जाते है, चिताए समाप्त हो जाती है, वासनाए क्षीण हो जाती है। और तब उसके कर्म सच्ची करुणा की भावनाओ से उत्प्रेरित हो प्रभुचरणो मे समर्पित होने लगते है।

चूकि मानव व्यष्टि, समष्टि रूप मे ऐसे वैज्ञानिक धर्म मे विहीन हो गया है, उसकी परम सत्ता (आत्मसता) मे कोई जड नही रह गई। इसीलिए उसको सब चर्या विकृत और कुरूप हो गई हे। इस आध्यात्मिक अस्वास्थ्य को व्यष्टि और समष्टि रूप से दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। यह सच्चे धर्म के पुनरुत्थान से ही हो सकता है। ●

जीवन और मृत्यु

जगत की प्रत्येक वस्तु द्वैत रूप से निर्मित है, परिपूर्ण है और यह द्वैत अत्यन्त विरोधी घेरों से बना है, जैसे प्रकाश और अंधकार, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील, सामयिक और शाश्वत, अनित्य और नित्य, जीवन और मृत्यु। गाड़ी का चाक स्थिर कील पर घूमता है, चक्र गतिशील है, पर उसकी गति ऐसी कील पर निर्भर है, जिसमें कोई गति नहीं है। यह कील इस गति का कारण है। यदि यह स्थिर कील टूट जाय तो चलनेवाले चाक की गति रुक जायगी। इसी प्रकार मानव का जीवन है, जो उसमें स्थित आत्म-तत्त्व रूपी कील पर केन्द्रित है, यह आत्म-तत्त्व रूपी कील स्वयं न तो बढ़ती-घटती और न घूमती है, पर उसके जो उपकरण इन्द्रियां मन, बुद्धि और प्राण हैं, ये सब गाड़ी के चक्कों की भांति घूमते हैं, सतत् परिवर्तनशील रहते हैं। यही क्या, सबकी आधारभूत यह जो पृथ्वी है, यह स्वयं घूमती है, और सतत् घूमती रहती है, एक कील के आधार पर। यही हाल अन्य ग्रह-नक्षत्रों का है, जिसे हमारे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखें तो एक विरोधी आधार, एक अस्तित्व, हमें सर्वत्र दिखाई देगा, जो वस्तु, पदार्थ और चेतन प्राणी के भी अस्तित्व का कारणभूत है। यह आधार देखने में हमें विरोधी दिखाई देता है, पर यथार्थ में विरोधी न होकर परिपूरक है।

इसी प्रकार मृत्यु जीवन की विरोधिनी नहीं है, वरन् मृत्यु परिणति है, अ-मृत केन्द्र है। मृत्यु का चक्र एक अक्षय अमृत कील पर चलता है। अर्थात् सृष्टि के भीतर जहां-जहां मृत्यु दिखाई देती है, वहां-वहां वह भी मौजूद है, जो मरण-धर्मा नहीं है। जहां परिवर्तन दिखाई पड़े, वहीं उसे भी पहचान लेना चाहिए, जो परिवर्तनशील नहीं है। दूसरे शब्दों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता, यदि उसके भीतर कोई अपरिवर्तनशील न हो। अपरिवर्तनशील ही

अनुपस्थिति मे परिवर्तनशील उसी प्रकार बिखर जायगा, जैसे फूलो की माला धागे के अभाव मे बिखर जाती है । स्वय को ही लीजिये । बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था की तह मे कोई है, अन्यथा यह परिवर्तन कैसा ? यह कोई जो है उसका भी हमे बोध होता है, क्योकि जीवन के इस परिवर्तन-चक्र मे बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर भी हमारे भीतर जो अन्य तत्त्व है, इन परिवर्तनो से अप्रभावित अक्षय रूप से वह वही रहता है, जो पूर्व मे था । इन परिवर्तनो की तह मे यह धागा है, जो अवस्थाओ को सभाले रहता है और एक मे गूथे रहता है । मक्षेप मे, जहा-जहा अनित्य दिखाई पडता है, वहा-वहा नित्य भी है ।

हम अनित्य को ही जान पाते है, क्योकि हमारी ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रिया अनित्य है। जो नित्य है वह अदृश्य है, अगोचर है। इस जगत मे जो भी हमे दिखाई पडता है, जो भी हमे सुनायी पडता है, जो भी हमारी इन्द्रियो का अनुभव बनता है, वह अनित्य और परिवर्तनशील ही होगा, क्योकि हमारी समस्त इन्द्रिया परिवर्तनशील से ही निर्मित है । उनके माध्यम मे उसे नही जाना जा सकता, जो कि परिवर्तन के पीछे है और समस्त परिवर्तन का आधार है । इसलिए हम अपने चारो ओर मृत्यु तो सदा ही देखते है, अमृत नही देखते । इसे हम यो भी कह सकते है कि हम वस्तुत जीवन से परिचित नही हो पाते और जिसे हम जीवन जानते हे, वह केवल क्रमिक मृत्यु है, उसीका ही रूप है । व्यक्ति जिस दिन जन्म लेता है, उसी दिन उसकी मृत्यु आरम्भ हो जाती है । वह क्रमश मरने लगता है और जिसे हम एक दिन मृत्यु के रूप मे जानते है, वह कोई आकस्मिक घटना नही, वरन् उसी लम्बी मरण-प्रक्रिया का समापन या समारोप है, जो जन्म के दिन आरम्भ हुई थी, अथवा जिस पार्थिव वस्तु या व्यक्ति को हमने उसके जन्म के रूप मे देखा था। उसके परिवर्तित, विकसित और विसर्जित रूप को भी हम मृत्यु कह सकते है, इस प्रकार जन्म भी और मृत्यु भी ये मात्र दो घटनाए है, समग्र जीवन नही । जो चीज बनेगी वह मिटेगी भी, इसी प्रकार जो जन्म लेगा, वह मृत्यु को भी प्राप्त होगा, यह निश्चित है । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—'धरा को प्रमान यही तुलसी, जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना ।" अत मृत्यु एक जन्म के समापन

की प्रक्रिया है, जीवन की नहीं, जीवन का संबंध तो न जन्म से है, न मृत्यु से। वह तो जीवन ही है सरिता की उस अजस्र धारा के समान, जिसका न उद्गम किसीने देखा है, न सागर के अन्तराल में विलय। इस प्रकार जन्म और मृत्यु दो बिन्दुओं के बीच जिसे हम जानते हैं, वह यथार्थ जीवन नहीं है, यथार्थ जीवन तो जन्म के भी पहले है और मृत्यु के पश्चात् भी। जन्म और मृत्यु के बीच में जीवन की सच्ची घटना नहीं घटती, वरन् जीवन के ही मध्य में अनेक बार जन्म और मृत्यु की घटनाएं घटती रहती हैं। जिस तत्त्व को हम जीवन कहते हैं, वही जन्म ग्रहण करता है और वही मृत्यु भी अंगीकार करता है। लेकिन यथार्थ में न तो उसका जन्म होता है, न उसकी मृत्यु होती है। जन्म और मृत्यु वस्त्रों के पहनने और उतारने की भांति है और श्रीमद्भगवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने ठीक कहा है :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जन्म और मृत्यु के बीच को हम जीवन नहीं मानते, वरन् जन्म और मृत्यु के परिवर्तनशील चक्र के भीतर जो नित्य है, वह जीवन है। इस तरह मानने का प्रमाण स्वरूप स्पष्ट कारण यह है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदल रहा है, अन्यथा जो शिशु था वह वृद्ध नहीं हो सकता था, इस परिवर्तन को सम्हालनेवाला सूत्र या तत्त्व पृथक ही हो सकता है।

इस तत्त्व को इन्द्रियां नहीं देख सकतीं, किन्तु इन्द्रियों के ऊपर उठकर देखने की सम्भावना है, अति इंद्रिय दर्शन असम्भव नहीं। इस भांति ही मृत्यु के अतीत अमृत के दर्शन होते हैं, जो अपने भीतर अपनी मृत्यु की परिधि में अक्षय अमृत केन्द्र को जान लेता है, वह समस्त सृष्टि में भी अनन्त के भीतर नित्य को जान लेता है। जीवन सत्य को जानने के लिए स्वयं के भीतर उतरकर जानना पड़ता है, जो इन्द्रियों के परे है और परे होने के कारण इन्द्रियों से तो जाना ही नहीं जा सकता, वरन् तभी जाना जा सकता है जब सब इन्द्रियां शांत और शिथिल हों, निष्क्रिय और व्यापारशून्य हों। इसे ही योग ने 'समाधि की अवस्था' कहा है। समाधि में व्यक्ति के भीतर नित्य

के दर्शन करता है और तभी वह श्रीमद्भगवतगीता के शब्दो मे जान पाता है कि मेरे भीतर वह है

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत. ।।

जो व्यक्ति समाधि के माध्यम से नित्य जीवन को जान पाता है वही व्यक्ति ठीक अर्थो मे जीवित है । भगवान बुद्ध की परपरा मे साधु की उम्र तबसे गिनते थे जब उसको समाधि उपलब्ध हो जाती थी । इसके पूर्व का हमारा जो जीवन है, उसका मूल्य स्वप्न से अधिक नही है । वेदान्त ने इन्ही अर्थो मे जगत् को माया कहा है । माया का अर्थ हुआ बिना जीवन को जाने जिये जाना, अथवा एक अज्ञान, अधकार और अविवेक की स्थिति मे बने रहना । ऐसे समस्त जीवन के भीतर मृत्यु का भय छिपा रहता है, क्योकि जहा अज्ञान है, अधकार है, और अविवेक है वहा भय होगा ही, और जो मृत्यु से प्रतिक्षण भयभीत है, वह यथार्थ जीवन जियेगा कैसे। वह केवल मृत्यु से सुरक्षा खोजता रहता है, मृत्यु से बचते रहने के प्रयास मे ही वह एक दिन मिट जाता है । लेकिन जो जीवन सत्य को जान पाता है, उसका मृत्यु का समस्त भय विलीन हो जाता है, वह न तो मृत्यु को शत्रु कहता है और न मित्र । वह तो यहातक मानने लगता और कहने लगता है कि मृत्यु है ही नही और ऐसी मृत्युन्जयी को जब कभी कोई मृत्यु की बात करता है या उसका भय दिखाता है तो वह उसे आह्वान करता हुआ कहता है

जिस मरने से जग डरे, मोरे मन आनन्द ।
कब मरिहो, कब पाहिहो, पूरण परमानन्द ।।

इस बोध को जो प्राप्त हो जाता है, उसकी समग्र जीवन-चर्या मे आमूल परिवर्तन हो जाता है । सामान्य मनुष्य का जीवन भय का भूत है, ऐसे व्यक्ति का जीवन अभय केन्द्रित हो जाता है । भय से ही सब पाप निकलते है, भय से ही सब दु ख पैदा होते है, भय से ही सब चिन्ताए उत्पन्न होती है, अभय से सब पाप, दु ख और चिन्ताओ का विसर्जन हो जाता है । अभय आनन्द है, आनन्द ब्रह्म है । ऐसी ही अनुभूति के क्षण मे जन्म और मृत्यु से अप्रभावित किसी जीवनमुक्त ने कहा होगा— "अह ब्रह्मास्मि," "तत्वमसि, सर्व खल्विद ब्रह्म," इत्यादि । ●

साहित्य और साहित्यकार

साहित्य शब्द बड़ा व्यापक शब्द है। मानव अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा जो कुछ उपार्जित करता है, वह सब साहित्य मे समाहित हो जाता है। परन्तु यहा हम साहित्य शब्द का अर्थ सकुचित रूप मे कर रहे है। जिस साहित्य का इस लेख मे उल्लेख है वह ललित साहित्य है। ऐसा साहित्य यदि अक्षरो मे लिखा जाता है अथवा किसी वाद्ययत्र के स्वरो मे स्फुरित होता है अथवा किसी नृत्य या नाटक मे प्रदर्शित किया जाता है तो वह सब भी इस ललित साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है।

मानव इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण है। अन्य प्राणियो मे विचार करने की वह शक्ति नही, जो मनुष्य मे है। यह विचार की शक्ति जगत् मे सबसे बडी शक्ति है और एक व्यक्ति के अन्त-करण को दूसरे व्यक्ति के अन्त.करण से सबधित करने का विचार ही माध्यम है। किसी एक ही विचार का निरतर सस्कार क्रमश भाव म प्रविष्ट हो जाता है और जो भाव बन जाते है वे भी चरित्र का निर्माण करते है। किसी भी मनुष्य के चरित्र मे जो कुछ प्रकट होता है उसकी जडे भाव मे होती है और जो भाव मे दिखाई पडता है, उसके मूल प्रभाव विचार मे आते है।

ललित साहित्य कला के अन्तर्गत आता है। कला के सबध मे दो पक्ष है। एक पक्ष का मत है कला के लिए कला। दूसरा पक्ष यह नही मानता। वह कला को व्यष्टि और समष्टि के सत् जीवन का साधन मानता है। जो बात अन्य कलाओ के सबध मे है, वही ललित साहित्य के सबध मे भी है। यदि ललित साहित्य का कार्य व्यष्टि और समष्टि के सत् जीवन का निर्माण है तो वह प्रत्यक्ष रूप से तो उपदेश का कार्य नही कर सकता, परन्तु परोक्ष रूप से व्यष्टि और समष्टि मे ऐसे विचारो का प्रादुर्भाव करता है, जो

कल्याणकारी हो। ऐसा साहित्य यदि प्रत्यक्ष रूप से मनोरजन करते हुए परोक्ष रूप से भी व्यष्टि और समष्टि मे इस प्रकार के विचारो को उद्दीप्त नही कर सकता तो ऐसे ललित साहित्य का मूल्य मेरी दृष्टि मे सामयिक से अधिक कुछ नही होगा। ललित साहित्य भी शाश्वत वही हो पाता है, जिससे कल्याणकारी विचार आन्दोलित होते है, उनके अनुसार उनमे परिवर्तन होता रहता है, भावनाए बनती है और जो जीवन को कल्याणकारी दिशा मे ले जाता है।

हम देखते है कि इस समय दो प्रकार का साहित्य-सृजन हो रहा है। एक कुछ उपदेश देता है और प्रचार करता है और दूसरा सहज वृत्तियो से प्रेरित वासनाओ को उत्पन्न करता है। पहले प्रकार के साहित्यकार शुभ की चर्चा करते है और शुभ को सुन्दर के ऊपर प्रतिष्ठा देते हैं। उनकी बातो से ध्वनित होता है कि वे साहित्य को नीति का प्रचार बनाये रखना चाहते है। उनके विरोध में जो सुन्दर के उपासक है, वे जाने-अनजाने अनीति के समर्थक हो जाते है। ललित-साहित्य प्रचार नही है, न किसी सिद्धात का, न किसी नीति का, और जब भी ऐसा साहित्य प्रचार का कार्य करेगा, वह ललित साहित्य नही रह जायगा, क्योकि सचेतन प्रचार होते ही उसकी सहजता, उसकी अन्तस् स्फुरण, सभी खो जाता है। ऐसा साहित्य यान्त्रिक हो जाता है। इसके विरोध मे जो साहित्य की सहजता के पक्षपाती है, उनका साहित्य केवल वासनाओ का अनुचर होकर रह जाता है, क्योकि साधारण मनुष्य-मात्र मे वासना सहज होती है। साहित्य की सहजता का यथार्थ अर्थ है बिना किसी पूर्व-निर्धारित सिद्धातो, नैतिक आदर्शो आदि को ध्यान मे रखे जो सहजस्फूर्त हो। ये दो प्रवृत्तिया आधुनिक काल मे ललित साहित्य-रचना की प्रेरक है और यही द्वन्द्व का कारण है।

मनुष्य के भीतर बहुत-सी वासनाओ के अचेतन प्रवाह है। विवेक का नियन्त्रण न हो तो वे सब सहज प्रादुर्भूत होगी, उसी भाति जैसे 'सैक्स'। अगर साहित्य को इस भाति केवल सहज पर छोड दिया जाय तो सारा साहित्य कामुक हो जायगा, क्योकि 'सैक्स' ही मनुष्य की सबसे अधिक गहरी वासना और सबसे अधिक अचेतन प्रवृत्ति है। ऐसा साहित्य जाने-अनजाने अनीति का प्रचारक बन जाता है, जो नीति का नही, प्रवृत्ति का प्रचार है।

साहित्य की इस तथाकथित सहजता के कारण ही 'फ्रायड' कला के लिए कला वाले पक्ष के आधुनिक ललित साहित्यकार का आधार और मानदण्ड बन गया है, और उनकी प्रामाणिकता भी स्वयंसिद्ध हो गई है। चूकि फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि के परिचालन का केन्द्र 'सैक्स' है, वह इसकी उपेक्षा करके नही चलता, उसका मत है कि सैक्स के अभाव मे मानव-मन मे विकृतिया एव कुठाए उत्पन्न होती है। कुठाए सूखे हुए जुकाम की तरह विकृतियो की भाति मस्तिष्क में सक्रामक रोगों के कीटाणुओ की उत्पत्ति का निमित्त बनती हैं, और अन्ततः मनुष्य वासनाओ के बीच घुट-घुटकर ह्रासोन्मुखी हो जाता है। इसीलिए फ्रायड कुठाओ की अभिव्यक्ति का आग्रह लेकर चलता है। वह कुठाए न उत्पन्न होने देने मे मानव-उत्कर्ष की सभावनाओ को स्वीकार करता है। दुर्भाग्य से हमारे आधुनिक साहित्य का भी, जो या तो काम-साहित्य है या प्रचार-साहित्य, आधार यही बन पडा है। परिणाम यह हुआ है कि वासनाओं की तृप्ति की इस दौड़ मे अतृप्ति का सागर चारो ओर अपना प्रसार बढा रहा है। जो प्रचार-साहित्य है, उसके आधार मार्क्स हैं और जो काम-साहित्य है उसके आधार फ्रायड। साहित्य-जगत् मे इन दो नामो की निरन्तर चर्चा आकस्मिक नही है, इन दो पक्षो मे सामान्यत आज के सारे ललित साहित्य, उसकी प्रवृत्तियो और परिणामो को देखा जा सकता है।

सच्चे अर्थों मे ललित साहित्य की सहजता और शुभ सत्य इसी सिक्के के दो पहलू हैं। ये विरोधी नही, परिपूरक हैं। गहरे मे उतरने पर वस्तुत वे एक ही है। सत्य अपने स्वय में पूर्ण होता है। जीवन और जगत् के बीच जो भी विभ्रम की सस्थिया है, उनमें ही मनुष्य की खोज का परिणाम है—सत्य। सत्य के सबध मे अनेक मत है। किन्तु जिस वस्तु का अस्तित्व हुआ करता है उसीके सबध मे की गई प्रतीति सत्य कही जायगी। जो है, जिसके होने का भ्रम है, उसके सबध मे मनुष्य की समस्त इच्छाए, उसकी जिज्ञासा ज्ञात करने के लिए केन्द्रित हो जाती है। सत्य अपने मे मानवीय है, इसी कारण उसका समस्त चेतना-बोध कल्याण से सबद्ध है। शिव की परिकल्पना की भूमि सत्य है, सत्य अस्तित्व बोध के अभाव में शिव सभव नही। सत्य और शिव का जो मूर्त स्वरूप होगा, वह निश्चित ही सुन्दर होगा।

हमारा सत्य और शिव यदि निराकार के निकट है, तो सुन्दर साकार के निकट है। दूसरे शब्दो मे सत्य और शिव गुण है जबकि सुन्दर उसका वाह्य उपादान रूप है। तीनो की समन्विति मे कला सप्राण हो जाती है। फिर जो शुभ होगा वह सुन्दर होगा ही। और जो शुभ और सुन्दर है, वह शिव भी होगा, और जो सुन्दर है, शुभ है, शिव है, उसके अशुभ होने की कोई सम्भावना नही हो सकती, क्योंकि अशुभ से अधिक और कोई कुरूपता और फूहडता है ही नही।

हमारे यहा निर्गुण और निराकार ब्रह्म को सच्चिदानंद, सत् चित् और आनद रूप कहा गया है। सत् का अर्थ है अनत आकाश की भाति भूत, वर्तमान और भविष्य सर्वकाल मे रहनेवाला, चित् का मतलब है, वह चैतन्य जो तीनो कालो का ज्ञाता त्रिकालदर्शी है। और आनद है- काल गति से रहित, हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वो मे अप्रभावित, शात, शुद्ध, बुद्ध एव समदर्शी। यही हमारे इष्ट रूप का, सत्यरूप का और ब्रह्म रूप का भी दर्शन है। सत्य के इसी स्वरूप का दिग्दर्शन कवि की, कलाकार की और साहित्यकार की कल्पना, तूलिका और लेखनी ने त्रिवेणी रूप मे अतीत काल मे ही किया है, पर ललित साहित्य मे इस सत्य के साथ सौन्दर्य का दिग्दर्शन भी चाहिए। सौंदर्य आकाश-मण्डल मे उदित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रो से, पृथ्वी पर पर्वतो, सागर, सरिता, सगमो और सरोवरो से तथा विविध प्रकार की प्राकृतिक छवि, छटा एव अन्य उद्भिज सृष्टि तथा अनन्त जीवधारियो से ज्ञात होता है। वह सत्य के साथ ही ऐसा सौंदर्य सम्राट् है कि उसकी परिकल्पना चरम सौंदर्य मे ही की जा सकती है। साथ ही वह शुभ भी है।

लेकिन ऐसे शुभ और सौंदर्य-पूर्ण सत्य के अनुभव के लिए साहित्यकार को साहित्य का ही नहीं, स्वय का भी सृजन करना होगा। मैं उस मत का अनुयायी नही, जो कहता है कि भ्रष्ट-से-भ्रष्ट साहित्यकार भी उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट साहित्य का सृजन कर सकता है। यह सही है कि कीचड मे कमल की उत्पत्ति होती है, किन्तु सरोवर की जल सतह पर उठने के पूर्व उसे कीचड से उठना पडता है और उठने के इस क्रम मे उसे निर्लेपता से उठना पडता है, कीचड को साथ लेकर नही। तभी वह सौंदर्य पाता है। कमल बनता है। इसी प्रकार साहित्यकार को वासनाओ, कुंठाओं और राग-

द्वेषादि के दलदल से ऊपर उठना होगा। तभी वह साहित्य के सत् पक्ष का सृजेता साहित्यकार बन सकेगा, क्योंकि साहित्यकार से जो निकलता है वह उसके स्वय के व्यक्तित्व के ऊपर का नही हो सकता। स्वाभाविक है, साहित्यकार का व्यक्तित्व जिस स्तर का होगा उसका साहित्य भी उसी स्तर तक प्रभावशाली होगा। दूसरे शब्दों मे वस्तुत साहित्यकार ही अपना साहित्य बन जाता है। किसी साहित्य को यदि समझना है तो उसकी मूल जडो को साहित्यकार मे खोजना होगा। किसी भी साहित्य मे उसके सृजेता साहित्यकार के छुपे हुए अन्त करण की सहज प्रतिछवि देखी जा सकती है। सृष्टि कभी सृष्टा से ऊपर नही उठती। इसीलिए हमारे लिए विचारणीय सृष्टि नही, सृष्टा ही होता है। शुभ साहित्य का जन्म और ऐसे सृजन की सभावना जहा सौदर्य और शुभ मे विरोध न हो, तभी सभव है, जब उसका सृष्टा अचेतन वासनाओ से ऊपर उठे और अतिचेतन मानस से सबधित हो। एक सहजता अचेतन मन की है और एक सहजता अतिचेतन मन की भी। दूसरे शब्दो मे एक सहजता वासनाओ की है और एक सहज विवेक की। दोनो के बीच मे बुद्धि है, जो कि सहज नही, तर्कणीय है। प्रचार-साहित्य बुद्धि से पैदा है तथा कथित सहज साहित्य अचेतन वासनाओ से, परन्तु शाश्वत ललित साहित्य अतिचेतन विवेक से उत्पन्न होता है।

अतिचेतन मानस से आविर्भूत ललित साहित्य मे सौन्दर्य और शुभ एक होगे। बुद्धि से निर्मित साहित्य मे शुभ का स्वीकार और शुभ के विरोध मे पडनेवाले साहित्य का अस्वीकार होगा। अचेतन से निर्मित साहित्य मे सुन्दर का स्वीकार और सुन्दर के विरोध मे पडनेवाले शुभ का अस्वीकार। इस प्रकार शुभ और सुन्दर की यह असगति बनी रहेगी। विवेक के क्षेत्र मे पहुचकर ही ललित साहित्य पूर्णता को उपलब्ध करता है। वही उसे अखण्डता मिलती है और वही उसका शुभ और सुन्दर का द्वन्द्व समाप्त होता है। सच्चे ललित साहित्य का जन्म वही है, जहा शुभ और सुन्दर मे द्वन्द्व नही। जहा वे एक है। इस अद्वैत मे जिसका जन्म होगा है, उसका आधार सत्य है और ऐसा ललित साहित्य प्रत्यक्ष मे मनोरजन करते हुए परोक्ष मे ऐसी भावनाओ को प्रादुर्भूत करता है, जो व्यष्टि और समष्टि के जीवन के लिए कालसीमा से परे कल्याणकारी है। ●

साहित्य का दायित्व

इस युग मे दायित्व शब्द सुनते ही अधिकतर व्यक्तियो की नाक-भौह सिकुडने लगती है। जीवन के हर क्षेत्र मे स्वतत्रता की कुछ ऐसी परिभाषा हुई है कि किसी प्रकार का दायित्व भी स्वतत्रता पर कुठाराघात माना जाता है। फिर साहित्य का दायित्व ! साहित्य तो हर प्रकार से स्वतत्र रहना चाहिए। साहित्य के सबध मे जब दायित्व की बात कही जाती है तब न जाने क्यो मान लिया जाता है कि यह दायित्व साहित्य को बाधने का प्रयत्न है। पत्र-पत्रिकादि चाहे कितनी ही गाली-गलौज करे, पर ऐसी बातो के नियत्रण के लिए ही यदि कोई कानून बनाने की बात आती है तो सब ओर होहल्ला मच जाता है कि पत्र पत्रिकाओ की स्वतत्रता के अपहरण का यत्न हो रहा है।

इन ऊपरी सतह की बातो को यदि हम एक ओर रखकर इस प्रश्न की गहराई मे उतरे तो हमे मानना होगा कि यथार्थ मे साहित्य का बहुत बडा दायित्व है, क्योकि इस विचारशील मानव का जीवन साहित्य के माध्यम मे ही निर्मित और परिवर्तित होता है। हजारो वर्षो के मानव-इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कभी-कभी तो हमे यहातक दिखाई देता है कि जो साहित्य आगे चलकर व्यष्टि और समष्टि के अकल्याण का प्रधान कारण सिद्ध होता है, वही एक समय उसके कल्याण का कारण माना जाता रहा है। इटली मे जब मुसोलिनी का उदय और फासिस्टवादी साहित्य का प्रचार हुआ, उस समय इटली के लोगो के लिए फासिस्टवादी साहित्य कल्याण का कारण माना जाता था, यहातक कि जब इटली के फासिस्टवादी काल मे एक बार कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर इटली से लौटकर आये तो उन्होने फासिस्टवादी इटली की प्रशसा की। यही बात हिटलर के नात्सीवादी जर्मनी मे हुई। नात्सीवादी जर्मनी से जब हिटलर

ने वहा के यहूदियो का निष्कासन किया, उस समय पश्चिम के अनेक विचारको ने जर्मनी के लिए यह आवश्यक वताया। आगे चलकर इस फासिस्टवाद और नात्सीवाद का दूसरे विश्वयुद्ध के रूप मे जो नतीजा निकला, वह हम देख चुके है। फासिस्टवाद तथा नात्सीवाद के उत्कर्ष के समय इटली और जर्मनी की प्रजा ने जो इन वादो को अपने लिए कल्याण-कारी माना, उसका प्रधान कारण उस समय इटली और जर्मनी मे प्रकाशित फासिस्टवादी और नात्सीवादी साहित्य था।

साहित्य की महत्ता को सभी कालो मे विचारको ने स्वीकार किया है। आज सोवियत रूस का जो साहित्य रूसी सरकार नाममात्र के मूल्य पर सारे ससार मे प्रचारित कर रही है वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, परतु सोची-समझी वात है। सोवियत रूस के विचारक इस वात को जानते है कि उनके विचारो का प्रचार और प्रसार का मुख्य माध्यम साहित्य है। जो चीज महत्व की होती है, उसका कोई दायित्व नही, स्वतंत्रता के नाम पर उसे हर प्रकार की स्वच्छन्दता दे दी जाय, इससे अधिक दुर्भाग्य-पूर्ण वात और क्या हो सकती है। आखिर सब प्रकार से स्वतत्र निसर्ग मे ही कितने प्रकार के वन्धन दीख पडते है! सरिता का अस्तित्व ही उसके प्रवाह के दोनो ओर की वन्धन-रूपी कगारे है। यदि ये न हो तो सरिता के सदृश्य कोई वस्तु रह ही न जायगी। समुद्र को लीजिये। एक असीम आकार मे भरे असीम जल की उत्तुग ऊर्मियो मे वह उछलता और लहराता रहता है। किन्तु एक निर्दिष्ट सीमा से आगे न वह कभी बढता है, न उफनता है और न उछलकर बहता है। यदि वह ऐसा करने मे प्रवृत्त हो जाय तो वह अपने विशाल, व्यापक और गंभीर गुणधर्म की गरिमा खो बैठेगा और उसका परिणाम प्रलय मे भी परिणत हो सकता है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र और तारागण तथा ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त ऋतुएं सभी पूर्ण स्वतत्रता के वावजूद प्रकृति-वन्धन मे वधी हुई है। वन्धन से, जिसे हम मर्यादा भी कह सकते है, मुक्त और स्वच्छन्द होते ही इनके द्वारा जो कल्याणकारी तत्त्व हमे मिलते है, वे हमारे अनिष्ट और अमगल का हेतु वन जायगे। एक अन्य दृष्टि से हम देखे। अग्नि हमारे लिए अनिवार्य है, जीवन है, उसके विना हम एक क्षण क्या, निमिष भर भी जीवित नही रह सकते। हमारे रक्त

की उष्णता, जीवन की उष्णता और विचारो की उष्णता के लिए हम सूर्य और अग्नि का आश्रय लेते है। किन्तु सूर्य जो हमारा जीवनदाता है, वही अपने अति-ताप से हमे व्याकुल करने लगता है, यही बात अग्नि के सबध मे है और यही साहित्य के सबध मे भी। इसी प्रकार हम देखते है कि हमारे लिए जो कल्याणकर है, शुभ हे, उसके अस्तित्व की और उसके दायित्व की एक सीमा है, एक मर्यादा है। उसका अतिक्रमण होते ही वह वस्तु जो हमारे लिए इष्ट थी, शुभ और कल्याणकर थी, अनिष्टकर बनने लगती है।

ऊपर कहा गया है कि साहित्य का दायित्व बहुत बडा है। उसके माध्यम से ही विचार-तरगे प्रवाहित होती है, जो शुभ या अशुभ, प्रकाश या अध-कार और इष्ट या अनिष्ट के लिए आदोलन बन जाती है। इन तरगो से व्यक्ति का हृदय प्रभावित होता है, जो समष्टि के हृदय-परिवर्तन का आधार है। व्यक्ति का हृदय ही वह ईंट है, जिससे समष्टि का भवन बनता है। समष्टि का अस्तित्व तो व्यक्तियो के जोड का नाम-मात्र है, जबकि व्यक्ति के अस्तित्व मे समग्र समष्टि की दिशा और दर्शन छिपा हुआ है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो अन्तर सबध है उनके ही ताने-बाने से समष्टि की रचना होती है। विचार व्यक्तियो को बदलते है, उन्हे गतिमान करते है और किन्ही दिशाओ मे उनके भाग्य को निर्धारित करते है। जो आज विचार की भाति प्रतीत होता है, उसकी सूक्ष्म तरगे कल स्थूल आचरण बन जाती है। आज का अन्तरिक्ष अभियान कल के ही विचार का परिणाम है और आज के अन्तरिक्ष अथवा चन्द्रमा तक पहुंचने की मानव की सफलता उसकी अपेक्षा उसके उस विचार मे आई है, जो कुछ समय पूर्व उसके मस्तिष्क मे उदय हुआ था। समाज के जीवन मे किसी विचार की उन्मुक्त अभि-व्यक्ति, इसीलिए, सम्भवत सबसे बडा दायित्व हो जाता है और इसीलिए साहित्य का दायित्व सबसे बडा है, क्योकि उससे बडा मनुष्य का भाग्य-निर्णायक और निर्माता कोई दूसरा नही है।

व्यक्ति अपने निजी एकान्त मे क्या सोचता है उससे, सिवा उसके स्वय के, और किसीका कोई सबध नही है। किन्तु जैसे ही वह उसे अभिव्यक्ति देता है, जैसे ही वह अपने विचार को किसीके प्रति प्रकट करता है, वैसे ही उसका सबध सबसे हो जाता है। विचार की ऐसी अभिव्यक्ति ही

साहित्य है, फिर चाहे वह किसी भी माध्यम से हो। चिंतन तो समाज के प्रति कोई दायित्व नहीं रखता, लेकिन उस चिंतन की जब अभिव्यक्ति होती है तब उसका दायित्व हो जाता है, क्योंकि जैसे ही कोई अपने चिंतन को प्रकट करता है वैसे ही वह अपने निजी घेरे को छोड़कर दूसरों के घेरे में प्रवेश कर जाता है। अत यह भूमि बहुत सम्हलकर चलने की है, क्योंकि प्रत्येक अभिव्यक्त किया गया विचार दूसरे को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। यह परिवर्तन अशुभ और अंधकार की ओर हो तो हिंसा प्रारम्भ हो जाती है। यह हिंसा सूक्ष्म होती है, लेकिन यथार्थ में बहुत घातक, क्योंकि सूक्ष्म हिंसा संक्रामक रोगों के कीटाणुओं की भांति समाज के मानसिक क्षेत्र में फैल जाती है, जबकि स्थूल हिंसा प्रकट रूप से कुछ वैर-विरोध बढ़ाती अथवा खून-खराबी करती है। इसीलिए स्थूल हिंसा की एक सीमा है, जहां वह समाप्त हो सकती है, किन्तु सूक्ष्म हिंसा कहां समाप्त होगी, कहना कठिन है। इसीलिए कोई भी जब भी कोई विचार देता है तो उसका दायित्व बहुत बड़ा हो जाता है, यह इसलिए कि उसका क्या परिणाम होगा, यह नहीं कहा जा सकता। विचार देना तो अपने हाथ में है, लेकिन उन्हें लौटाना नहीं, वे तरकश से छूटे हुए तीरों की भांति हो जाते हैं।

इस युग में हिंसा ही एक सर्वोपरि समस्या बन गई है। समस्त विश्व हिंसा या अहिंसा के नहीं, केवल हिंसा रूपी दो कगारों के बीच से गुजर रहा है। वह अतीत के अनुभवों से इतना भयभीत है कि हिंसा की पुनरावृत्ति की आशंका मात्र से कांप उठता है। इन अनुभवों ने जो शिक्षा और नसीहत आज के मानव को दी है, उसमें उसकी अहिंसा के प्रति जिज्ञासा एक आकुलता और अभीप्सा में परिणत हो गई है और आज वह जीवन के परम सत्य की खोज में तट पर के कगार पर खड़ा है। वह चाहता है, और हृदय से चाहता है, कि जीवनरूपी सरिता के, जिसमें अतीत से ही प्रेम का प्रवाह चला आ रहा है, हिंसा रूपी कगारों को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया जाय और उनके स्थान पर सद्भावरूपी उन कगारों को मर्यादित कर दिया जाय, जिससे वैर-विरोध और संघर्ष की सभी संभावनाएं समाप्त हो जायं। यह अहिंसा के द्वारा ही संभव है। इस स्थापना में साहित्य का दायित्व सर्वोपरि है। उसे देखना है कि उसके द्वारा किसी भी तरह के सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा

तत्त्व को प्रोत्साहन न मिले। जिस साहित्य मे अहिसक तत्त्व विद्यमान हो, वही इस युग मे आवश्यक है, और ऐसा ही साहित्य इस युग मे अपने दायित्व का निर्वाह कर सकता है। अहिसक साहित्य से हमारा अभिप्राय है ऐसा साहित्य, जो शुभ विचार-तरगो को आदोलित करता हो और जिसके परिणाम मे जन-हृदय ऊर्ध्वचेतन बने। आज जिस विचार की आवश्यकता है, वह है मानव के भेद का सहार, राष्ट्र-राष्ट्र के भेद की समाप्ति और विश्व-बन्धुत्व की स्थापना। इन तीनो बातो की उपलब्धि और स्थापना के लिए मै प्रथम को सर्वोपरि महत्व दूगा। जबतक मानव के भेद की दीवार ढह नही जाती, राष्ट्र-राष्ट्र के भेद का अन्त नही होगा। राष्ट्र-राष्ट्र का भेद मिटे बिना विश्व-बन्धुत्व का प्रश्न एक भावमात्र बना रहेगा, वह विचार नही बन सकता। अत अतिम दो को आचार रूप देने के लिए प्रथम को विचार-रूप मे स्वीकार करना आवश्यक है, यदि मानव के भेद को समाप्त करने के विचार से हम प्रथम बात के लिए सकल्पित हो जाय तो कोई वजह नही कि शेष दोनो बाते पूरी करने मे हम कामयाब न हो। इस आवश्यकता की स्थापना मे हिसा का कोई स्थान नही रह सकता और यह विचार देना साहित्य का ही दायित्व है।

जिसे हम साहित्य मानकर चल रहे हैं, उससे तो सारे जगत की चेतना अधोगामी हो रही है। उसके द्वारा हमारी आखे व्यापकता को लक्ष्य न कर एक सकीर्ण दायरे मे भटक रही है। हम पार्थिव-से-पार्थिव होते जा रहे हैं। मै पार्थिव उन्नति के विरुद्ध नही हू, परतु पार्थिव उन्नति की यह होड हमे एकागी बनाकर जिस वैर, विरोध, कलह, सघर्ष, विप्लव और युद्ध की ओर अग्रसर कर रही है, वह कल्याणकारी मार्ग नही है। इसमे परिवर्तन की आवश्यकता है, जो आध्यात्मिकता से ही सभव है। आज का साहित्य हमे परमात्मा की ओर उन्मुख न कर पदार्थो पर केन्द्रित कर रहा है। उसके आघात हमे आत्मा की ओर प्रवाहित नही कर रहे है, विरोधी मासलता से भर रहे है। ऐसी दुर्घटना मानव-इतिहास मे पहली ही बार घटी है, जब साहित्य भी हमे उसी ओर प्रेरित करता है।

साहित्य की यह दशा तो शोचनीय है ही और अधिक शोचनीय यह हो गया है कि तथाकथित साहित्यकार इसे शोचनीय न मानकर उल्टे प्रशसनीय

मान रहे हैं और चूंकि इस विचार का पोषण किसी सिद्धान्त या आदर्श के द्वारा नही किया जा सकता, इसलिए उलटा यह कह रहे हैं कि साहित्य के संबध मे दायित्व जैसी कोई चीज नही है। वे चाहते हैं स्वतन्त्रता के नाम पर स्वच्छन्दता। दायित्व की भाषा ही उन्हे परतन्त्रता की भाषा मालूम होती है। यह रुग्ण स्थिति विचारणीय है, क्योंकि दायित्व केवल उसे ही परतन्त्रता मालूम होगा, जो अस्वस्थ है, रुग्ण है। जिसका चित्त स्वस्थ है, शांत है, पवित्र है, दायित्व उसे आरोपण नही मालूम होता। उसके लिए तो वह अन्त.करण का आरोहण बन जाता है। वह उसे बाहर का दबाव प्रतीत नही होता, वरन् अन्तस् की प्रेरणा, उसकी आवाज मालूम होती है। यदि ऐसा न होता तो हमारी प्राचीन परम्परा मे हमे जो सदचिंतन और सृजनात्मक सत्साहित्य मिलता है, उसके दर्शन न होते। हमारा जो भी सत्साहित्य है, वह किसी बन्धन का परिणाम नही है, वरन् आत्मा की आवाज का सुफल है। वह सृजेता का कोई कृत्रिम आचरण या कृत्य नही है, जिसे उसने ऊपर से ओढ लिया हो, वल्कि एक अन्तर-जागरण है, जो उसके अणु-अणु और रोम-रोम की सच्ची स्वतन्त्रता और आनंद से आदोलित और अभिभूत है। यह उसका कर्त्तव्य ही नहीं, एक प्रेमपूर्ण भावना भी है। इसके माध्यम से वह क्षुद्रतम मनुष्य की गौरव-गरिमा को स्वीकार करता है। उसके प्रेम के कारण ही उसके लिए किसी व्यक्ति तक की मनुष्यता को आघात पहुचाना असभव हो जाता है। उसमे तो केवल वे ही विचार अभिव्यक्ति होते है, जो 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही न होकर सर्वोदय के सिद्धातों के अनुसार 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' हों। ऐसे प्रेम की दिशा मे दायित्व परतन्त्रता नही वरन् सच्ची स्वतन्त्रता बन जाता है, क्योंकि शुभ जितना प्रकट हो, चेतना उतना ही अधिक उन्मुक्त और स्वतन्त्र होगी और अशुभ की अभिव्यक्ति ही अन्तत: परतंत्रता बन जायगी। अशुभ स्वच्छन्द हो सकता है, स्वतंत्र कभी नही और स्वच्छन्दता स्वतन्त्रता का धोखा है। जो स्वच्छन्दता से अपनेको अपने ही द्वारा मुक्त कर लेता है, वही यथार्थ मे स्वतंत्र होता है। ●

सत्यं शिवं सुन्दरम्

ससार की चार सस्कृतिया सबसे प्राचीन मानी जाती है—भारत की, मिस्र की, चीन की और यूनान की। परन्तु भारत की सस्कृति को छोड शेप तीन सस्कृतियो के उन देशो के आधुनिक जीवन मे दर्शन नही होते। इन देशो की प्राचीन मस्कृति या तो इन देशो के अजायबघरो मे दीखती है या खण्डहरो मे। मात्र भारत ऐसा देश है, जिसकी प्राचीन सस्कृति की परम्परा आज के भारतीय जीवन मे भी दिखाई देती है।

भारतीय सस्कृति आध्यात्मिक सस्कृति है। इसका प्रधान कारण यह है कि हजारो वर्प पूर्व भारतीय ऋपि-महर्षियो ने और तत्त्ववेताओ ने एक खोज की थी। वह खोज थी कि यह सृष्टि यथार्थ मे एक ही तत्त्व है। हजारो वर्षो के बाद भी, ससार के विचारक इस खोज से आगे नही जा पाये है। यह युग वैज्ञानिक युग माना जाता है और आज के चोटी के वैज्ञानिक भी इसी निर्णय पर पहुचे है कि यह सृष्टि यथार्थ मे एक ही तत्त्व है। हमारे ऋषि-मुनियो और तत्त्ववेत्ताओ ने इस तत्त्व को चैतन्य माना है। आज के अधिकाश वैज्ञानिक इसे जड मानते है। परन्तु यह सृष्टि एक ही तत्त्व है, इससे हमारे ऋपि-महर्षियो, तत्त्ववेत्ताओ तथा आधुनिक वैज्ञानिको मे कोई मत-भेद नही है।

इस एक तत्त्व को हमारे दार्शनिको ने 'सत्य शिव सुन्दरम्' के विशेषण से विभूषित किया था। सत्य, शिव और सुन्दर इन तीन शब्दो को सुनकर ऐसा भास होता है, जैसे विश्व की ब्रह्म-शक्ति तीन भागो मे विभाजित हो। किन्तु यह सत्ता तो अविभाज्य है और उस तल पर कोई खण्ड सम्भव नही। इस सत्ता को हम खण्ड रूप मे देख सकते हैं, किन्तु स्वय सत्ता खण्डित नही हो सकती, क्योकि सत्ता से अर्थ है आन्तरिक और अत्यातरिक, जो आधार-भूत है। यह परम आधार एक ही है। तब सत्य, शिव और सुन्दर का यह

विभाजन कैसा ? यह विभाजन यथार्थ में सत्ता का नहीं, मनुष्य के देखने के दृष्टिकोण का है। मनुष्य का मन तीन भांति से देखने और तीन भांति से संवेदित होने में अभ्यस्त हो गया है। मनुष्य के पास विवेक है, जो उस सत्ता को सत्य के रूप में विचार करता है। मनुष्य के पास अन्त करण है, जो उसके शिवत्व को अनुभव करता है, और मनुष्य के पास हृदय है, जो उसके सौन्दर्य से आन्दोलित होता है। यह एक तत्त्व, यह परब्रह्म, यह सत्ता जब विवेक के माध्यम से अनुभव होती है तब सत्य बन जाती है। जब अन्त -करण उसे जानता है तब उसका शिव के रूप में अनुभव होता है, और जब वह हृदय के द्वार से जानी जाती है तो वही सौन्दर्य बन जाती है। पंडित सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में यही व्यंजना हुई है:

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप
लोकसेवा में शिव अविकार।

यह विभाजन स्वयं सत्ता का न होकर द्रष्टा का है। इन तीन विभाजनों में देखने के अतिरिक्त इसके अवलोकन का, अथवा दूसरे ठीक शब्दों में अनुभव का, एक और भी मार्ग है जो चौथा मार्ग माना जा सकता है। इसे हमारे मनीषियों ने तुरीय कहा है। इस माध्यम से जब उसे जाना जाता है तब उसकी अनुभूति एक ही रूप में होती है, क्योंकि उस समाधि दशा में मनुष्य अपने विचार, अन्त करण और हृदय के विभाजन का अतिक्रमण कर उसके दर्शन करता है।

समाधि के द्वार से जिन्होंने इस एक तत्त्व को नहीं जाना है और जिनकी अनुभूति उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त है, वे उसे अपनी संवेदना के तीन कोणों में से अनेक बार एक ही कोण से उसे देखते हैं, जिसके कारण सत्य, शिव और सुन्दर में भी द्वन्द्व और संघर्ष जान पड़ता है। उन विभागों से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो सत्य, शिव और सुन्दरम् एकता और सामंजस्य न होकर आन्तरिक विरोध है। अनेक बार सौन्दर्य के पथिक शिवत्व के विरोध में दिखाई पड़ते हैं और शिव के प्रेमी भी सुन्दर की निन्दा में उन्मुख। यही कारण है कि नैतिक विचारक और कला के अनुगा-

यियो मे मैत्री नही मालूम होती। सत्य के अनुयायी भी सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा रखते है, कभी-कभी तो इस सीमा तक कि वे कुरूपता तक को आध्यात्मिक मान लेते है। इस द्वन्द्व के कारण विवाद भी पैदा होता है। इतना ही नही, मनुष्य का व्यक्तित्व भी खडित और एकागी हो जाता है। जिसने केवल सुन्दर को खोजा है और जिसके अन्न करण को शिव की उपलब्धि नही हुई, और जिसके विवेक ने सत्य की ज्योति नही पाई, वह व्यक्ति अत्यन्त अधूरा एव पगु है। सौन्दर्य के लोक मे भी उसकी उडान बहुत दूर तक नही हो सकती, क्योकि जिसका व्यक्तित्व खडित और पगु है, वह अखण्ड सत्ता मे गति प्राप्त करने मे असमर्थ होगा। अखण्ड मे प्रवेश करने के लिए स्वय अखण्ड मे प्रवेश होना आवश्यक है। ऐसी ही पगुता सत्य के और शिवत्व के एकागी अनुसधान से होती है। जो मात्र सत्य को खोजता है उसके हृदय के सारे रस-स्रोत सूख जाते है। आनन्द को अनुभव करने की उसकी सारी क्षमता क्षीण हो जाती है।

उस एक तत्त्व के तीनो विशेपणो सत्य, शिव और सुन्दर के सामजस्य वाले रूप के दर्शन से ही उस सगति की उपलब्धि होती है, जो मानव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। जो एक ही को साधता है, वह दो को तो खो ही देता है, और अन्तत उस एक को भी, क्योकि जैसे शाखाए वृक्ष के तने पर चाहे अलग मालूम होती है पर मूल मे एक ही पेड और एक ही जड से सयुक्त होती हैं, वैसे ही सत्य, शिव और सुन्दर भी एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप है। वृक्ष की एक शाखा को बचाने का जो उपाय करेगा, वह वृक्ष को तो खो ही देगा और शाखा को भी। वृक्ष तो पूरा ही बचाया जा सकता है और तब शाखाए अपने-आप बच सकती है।

सत्य, शिव और सुन्दर की समग्रीभूत खोज न तो तर्क से होती है, न नैतिक आचार के साधनो से और न कलाओ के अनुसधान से। ये तीनो ही मार्ग पृथक-पृथक रूप मे एकागिक है। सत्य, शिव, सुन्दरम् की अन्तरात्मा की खोज तो तीनो के योग से सधती है, क्योकि इस योग की साधना के माध्यम मे ही व्यक्ति अपने भीतर विवेक जाग्रत करता है और हृदय के विभाजन को खो देता है। उन तीनो के एकीकरण से प्रकट होती है वह ऊर्जा, जो इकट्ठी और राशिभूत हो जाती हे। उस एक तत्त्व पर ब्रह्म या सत्ता को

ऐसा व्यक्ति अपने भीतर सत्य, शिव और सुन्दर विशेषणों से युक्त एक रूप मे देखता है, उसका दर्शन अखण्ड हो जाता है।

सत्य, शिव और सुन्दर भारतीय संस्कृति के परिपेक्ष्य मे दार्शनिक मान्यता है और उनके व्यवहार को जीवन, समाज व कला के क्षेत्र मे आदर्श माना जाता है। सत्य, शिव और सुन्दर तीनो के विशिष्ट सामजस्य मे ही परम तत्त्व का अखण्डित व समग्र रूप का परिदर्शन करना सम्भव है। उक्त तीनो मे से किसी एक का अभाव हो जाने का परिणाम होगा असंतुलन। यह भी द्रष्टव्य है कि भारतीय संस्कृति अपने आध्यात्मिक परिवेश मे समन्वयी भी है, अतएव सत्य, शिव, सुन्दर तीनो के समन्वय में भारतीय संस्कृति के परमोत्कर्ष की सम्भावना रहती है। ●

आज के समाज में इतनी कामुकता क्यों ?

इस सृष्टि की रचना क्यो हुई, कब हुई, इस सम्बन्ध मे अनुमान की ही बाते कही गई और लिखी गई है । उपर्युक्त दोनो बातो का कोई ऐसा तार्किक तथ्य नही है, जिसे अकाट्य कहा जा सके ।

मोटे रूप से इस सृष्टि के दो विभाग है—जड और चेतन, और दोनो ही विभागो मे सदा परिवर्तन होता रहता है । आज जहा हमे बडे-बडे पर्वत दृष्टिगोचर होते है वहा कभी विशाल सागर थे और जहा सागर होते है, वहा बडे-बडे मरुस्थल । इस प्रकार जड सृष्टि मे भी परिवर्तन होते रहे है और जगम मे तो ये परिवर्तन नित्य ही दृष्टिगोचर होते है । हर वस्तु की पहले उत्पत्ति होती है, फिर विकास और अन्त मे नाश । परन्तु जिस वस्तु की उत्पत्ति ही न होगी, उसका न विकास हो सकता है और न नाश । इस सृष्टि की क्यो रचना हुई और कब हुई, इस सम्बन्ध मे चाहे कोई अकाट्य बात न कही जा सके, परन्तु एक बात निर्विवाद है, परिवर्तनो के साथ यह सृष्टि चलती रहे, यह व्यवस्था अवश्य है ।

सृष्टि की उत्पत्ति मे काम-भावना प्रमुख है । बिना इस भावना के किसी वस्तु की उत्पत्ति ही नही हो सकती, तब विकास और नाश का तो प्रश्न ही नही उठता । गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक प्रसग मे इस काम के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, वह, यदि हम उस प्रसग को छोड दे तो भी, हमे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । तुलसीदासजी लिखते है—

सबके हृदय मदन अभिलाषा । लता निहार नवहिं तरु शाखा ॥
नदी उमगि अम्बुधि पह जाई । सगम करहिं तलाब तलाई ॥

तुलसीदासजी ने, जिन्हे हम जड सृष्टि के अन्तर्गत मानते है, उन तक के लिए उपर्युक्त वर्णन किया है, फिर जगम सृष्टि के सम्बन्ध मे तो यह बात कही अधिक है ।

परन्तु काम एक बात है और कामुकता सर्वथा दूसरी । यह कामुकता मनुष्य को छोड जगम जगत् के अन्य किसी भी प्राणी मे नही पाई जाती ।

ऐसा कभी न था कि मनुष्य मे भी काम न रहा हो । सृष्टि के परिवर्तन के साथ चलते रहने के लिए काम आवश्यक है, परन्तु कामुकता नही । काम वह भावना है, जिससे मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण ऊपर उठे तो दिव्य हो जाता है और यदि नीचे गिरकर कामुक हो तो फिर वह मनुष्य नही रह जाता । काम स्वस्थता है और कामुकता रुग्णता । काम सामान्य घटना है, वह स्वस्थ मनुष्य का लक्षण है, परंतु यदि वह कामुकता मे परिणत हो जाय तो फिर वह मनुष्य को स्वस्थ नही रहने देती । काम की स्वाभाविक भावना मनुष्य को मानव रखती है । जब वह उससे ऊपर उठता है तो दिव्य बन जाता है और जब यह भावना कामुकता मे परिणत होती है, तब उसका पतन हो जाता है । अनेक बार तो कामुक मनुष्य अन्य प्राणियों से भी नीचा मालूम पडने लगता है, क्योंकि अन्य प्राणियों में काम तो है, किन्तु कामुकता नही । सृष्टि का अन्य कोई प्राणी गर्भाधान के बाद मैथुन मे प्रवृत्त नही होता, यह सनातन सत्य है । परन्तु कामुक मनुष्य के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता । मानव की संख्या बढने के कारण संतति-निग्रह के न जाने कितने उपाय निकाले जा रहे हैं । ये सारे उपाय उसकी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए हैं । परन्तु उसकी कामुकता नष्ट हो जाय, इसका कोई उपाय नही सोचा जा रहा है । जैसे भूख लगना स्वस्थ शरीर का लक्षण है, किन्तु चौबीसो घंटे भोजन का विचार करना अस्वस्थ मन का, वैसे ही ठीक समय काम की वृत्ति का जागरण उस सृष्टि को चालू रखने के लिए स्वस्थ काया का लक्षण है, किन्तु सतत् काम का चिन्तन अस्वस्थ मन का । काम शारीरिक उत्पत्ति के लिए नैसर्गिक भावना है, जिसका मन के योग के साथ होने पर भी प्रधानतया शरीर से सम्बन्ध है । कामुकता सर्वथा मानसिक है । जैसे कोई घाव शरीर पर हो जाय तो मन बार-बार उसी घाव पर जाता है, वैसे ही कामुकता से रुग्ण मनुष्य की स्थिति होती है । कुछ लोग सदा इस भांति पीडित रहे होंगे, इससे हम इन्कार नहीं करते, क्योंकि जहा स्वास्थ्य है वहा बीमारी भी होती है, जहां गाव हो और बहुत से घर हों, वहां कुछ अस्पताल भी होंगे, किन्तु ऐसे गांव के दुर्भाग्य की हम

क्या कहे, जहा सब अस्पताल-ही-अस्पताल हो ? आज ऐसा ही हुआ है। कुछ ही व्यष्टि काम-रुग्ण नही है, बल्कि सारी समष्टि ही काम-रुग्ण हो गई है और जब सारा समाज एक ही बीमारी से पीडित हो तो बीमारी ही सामान्य और साधारण घटना मालूम होने लगती है। काम ही नही, किन्तु आज तो कामुकता भी प्राकृतिक मालूम पड रही है।

इस कामुकता का प्रधान कारण यह है कि काम सृष्टि को परिवर्तन के साथ चलाने के लिए उत्पत्ति का एकमात्र साधन है और इस रूप मे उसका अवलम्बन मानव को मानव रखता है तथा उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण इस शक्ति का आरोहण उसे दिव्य बना देता है, आज हम इसे ही भूल गये है। वजह यह है कि इस भावना का सम्बन्ध धर्म से था, और चूकि धर्म अनादृत हुआ है, अत यह भावना भी उपेक्षित हो गई है। धर्म के अन्ध-विश्वासो का विरोध सर्वथा उचित है। परन्तु यह स्मरणीय है कि धर्म-मात्र कुछ अन्धविश्वास ही नही, धर्म का वैज्ञानिक रूप भी है। जो पुराण-पथी और अन्धविश्वासी है, धर्म को उसके सारे कूडे-करकट के साथ बचा लेना चाहते है और जो विज्ञान के नाम पर धर्म का विरोध करते है, वे सारे धर्म को अग्निसात् करने के लिए उत्सुक है। ये दोनो ही प्रवृत्तिया अबुद्धि-वादी है। पहले प्रकार के अबुद्धिवाद का परिणाम हुआ कि हमारे देश मे विज्ञान विकसित न हो सका और दूसरे अबुद्धिवाद का परिणाम यह हो रहा है कि वैज्ञानिक धर्म भी उपेक्षित हो गया है। ऐसे वैज्ञानिक धर्म का मूल आधार है, वैज्ञानिक योग। इस योग की रीढ है—काम-शक्ति, जो कामुकता न हो तो, जैसा ऊपर कहा है, मानव को मानव रखती है और यदि इस शक्ति पर मानव-आरोहण कर ले तो वह दिव्य ऊर्जा मे परिणत हो जाती है, किन्तु यदि यह शक्ति कामुकता की ओर उन्मुख हो जाय तो मानव विना चाहे ही अन्य प्राणियो से भी अधिक पतित हो जाता है। इस सृष्टि मे कोई ठहराव की स्थिति नही है। जो ऊपर नही जाता, वह नीचे जाने लगता है। विकास या पतन ये दो ही विकल्प हैं। कुछ भी ठहरा हुआ नही है और न हो सकता है। एडिंग्टन ने कहा है कि मनुष्य की भाषा मे विश्राम से झूठा कोई दूसरा शब्द नही है। जो अन्य शक्तियो के सबध में सत्य है वही काम-शक्ति के सबध मे भी। मनुष्य को जो ज्ञान-शक्ति निसर्ग से

मिली है, उससे या तो उसे इस काम-शक्ति को दिव्य ऊर्जा मे परिणत करना होगा या फिर कामुकता मे उसका अधोपतन अपरिहार्य है।

आज के मनुष्य की कामुकता का मूलाधार उसका वैज्ञानिक धर्म पर विश्वास न रहना है। उसकी कामुकता का कारण सिनेमा है, या इसी प्रकार की दूसरी बातें, ये सब गौण हैं। जैसे विद्युत को तो हमने आज बांधना सीखा है, इसके पहले भी विद्युत शक्ति थी, पर उससे जो भी होता था, वह शुभ के स्थान पर सहार ही होता था। उस शक्ति से हम लाभान्वित नही थे, उल्टे पीडित थे, चूंकि उस पर हमारा न नियत्रण था और न उसका रहस्य ही हमे ज्ञात था। किन्तु जब हमने उसको जाना तो विद्युत सर्जन की शक्ति बन गई। मनुष्य के भीतर काम की शक्ति सबसे प्रधान, रहस्य-पूर्ण और अद्भुत है। उससे परिचित होकर जो उसके स्वामी बन जाते है, उनमे अलौकिक सृजन की ऊर्जा उत्पन्न होती है, तब काम दिव्य हो जाता है। उसे ही हमने ब्रह्मचर्य कहा है। जो संस्कृति और सभ्यता अपनी व्यक्ति-इकाइयों को ब्रह्मचर्य के विधायक विज्ञान मे विकसित करने मे समर्थ होगी, उसीका समाज कामुकता से पिण्ड छुडाकर सच्चा मानव-समाज बन सकेगा। ●

२१

आदर्श और यथार्थ

मानव की विशेषता उसका चिंतन-शील प्राणी होना है, फिर चिंतन की शक्ति के साथ निसर्ग ने उसे उस चिंतन को व्यक्त करने की शक्ति भी दी है। इस चिंतन के फलस्वरूप उसने आरम्भ मे ही जो कुछ व्यक्त किया है, उसे साहित्य के रूप मे सुरक्षित करने का भी उसने यत्न किया है। इस साहित्य का ससार का सर्वप्रथम ग्रथ ऋग्वेद माना जाता है। परन्तु मानव ऐसा जीव है, जो एकाकी नही रह सकता। वह सामाजिक प्राणी भी है। समाज तब चल सका जब समाज के शनै-शनै कुछ आदर्श निश्चित हुए और फिर इन आदर्शों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ ऐसी साहित्यिक रचनाए हुईं, जैसी हमारे देश मे रामायण है। रामायण मे व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धो का जैसा आदर्श उपस्थित किया गया है, ससार की शायद किसी अन्य साहित्यिक रचना मे नही। रामायण और इसी प्रकार की रचनाए यथार्थ से प्रस्फुटित हुई है, परन्तु धीरे-धीरे ऐसी रचनाओ मे कुछ अस्वाभाविकता आ गई और आगे चलकर साहित्य की दो पृथक धाराएं ही बन गई—आदर्शवादी रचनाए और यथार्थवादी रचनाए। यद्यपि आदर्श यथार्थ जीवन से ही निकले थे, और उन आदर्शों के बिना समाज का जीवन भी सुरक्षित रहना सम्भव नही था, तथापि ऐसा जान पडने लगा मानो आदर्श और यथार्थ मे कोई विरोध है। बिना यथार्थ के आदर्शवादी साहित्य अस्वाभाविक होता गया और बिना आदर्शों के यथार्थवादी साहित्य पोचा। आधुनिक काल मे पश्चिम के जीवन के सभी क्षेत्रो मे सर्वाधिक विकास हुआ और वहा साहित्य की ये दोनो धाराए अलग-अलग दीखने लगी। इस आदर्शवादी अस्वाभाविकता और यथार्थवादी पोचेपन को मिटाने के लिए नार्वे के इब्सन ने एक नया वाद निकाला—स्वाभाविकवाद (नेचरलिज्म)। इस वाद के अनुसार यथार्थवादी पोशाक मे ऊचे-से-ऊचे आदर्शवाद का समावेश

हो सकता है।

आदर्श और यथार्थ में दीखनेवाले विरोध के कारण आदर्शोन्मुख व्यक्ति ने निरन्तर यथार्थ से हटते जाने की चेष्टा की है। परिणामस्वरूप जीवन में एक तनाव पैदा हो जाता है। वह तनाव दुःख या क्लेश उत्पन्न करता है। चित्त संताप-ग्रस्त हो जाता है और तीव्र चिंता उत्पन्न होती है। यदि इस तनाव का कोई समाधान न हो पाये तो जीवन मे शुष्कता भी पैदा हो जाती है। इसलिए ही जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती जा रही है, वैसे-वैसे उन्माद और विक्षुब्धता का भी विकास हो रहा है। मानसिक रोगों का बढ़ता हुआ फैलाव आदर्श और यथार्थ के बीच तनाव से ही पैदा होता है। अतीत में मानसिक रुग्णताएं नही के बराबर थी। आज अकेले अमरीका मे प्रतिदिन १५ लाख व्यक्ति मानसिक उपचार के लिए चिकित्सकों से सलाह लेते है। फिर इन्ही विकारो के कारण आत्म-हत्याए और तलाक का तांता लग गया है। जीवन के अन्य अंगो पर भी इनका प्रभाव पड़ा है। विवाह और पारिवारिक जीवन, इसमें तलाकों की बढ़ती हुई संख्या, और इन सबका समाज पर प्रभाव के कारण सारे समाज का जीवन विकृत हो गया है। अत्यधिक मानसिक चिंता और तनाव के फलस्वरूप मादक द्रव्यो का भी बहुत प्रचलन हुआ है। सारे जगत मे इतनी सुरा पी जा रही है कि सागर भर जाय। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि तनाव-ग्रस्त मनुष्य किसी भी भांति अपनेको भुलाना चाहता है। इसी कारण, तथाकथित मनोरंजन के नाम पर, आत्म-विस्मरण के हजारो उपाय खोजे जा रहे है। जहां अतीत की सदियां आत्म-संस्मरण को खोजती थी, वहां हम आत्म-विस्मरण को खोज रहे है।

मानव की अस्वस्थ दशा का मूल कारण आदर्श को यथार्थ के विरोध में ही लेना है, जबकि, जैसा ऊपर कहा है, वस्तुतः आदर्श यथार्थ के विरोध मे नहीं, बल्कि यथार्थ के भीतर से ही विकसित होता है। हमने ऊपर रामायण का उल्लेख किया है। इस प्रकार का साहित्य हमारे इस मत का अनुमोदक है। आदर्श यथार्थ का शत्रु नहीं, यथार्थ की ही अंतर्निहित संभावना है। बीज मे जैसे वृक्ष छिपा रहता है, या अनगढ़ पाषाण में मूर्ति, वैसे ही यथार्थ में आदर्श अवगुंठित है। यथार्थ के परिष्कार से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। नार्वे के इब्सन द्वारा प्रवर्तित स्वाभाविकतावादी साहित्य इसका

प्रमाण है।

यथार्थ जीवन के सत्य से सम्बद्ध है। जो उपलब्ध है, अर्जित है, वह मानव का यथार्थ है, और जो अनुपलब्ध है, अनर्जित है, वह जिज्ञासा से उद्भूत होने के कारण तथा अपने विशिष्ट गुण का आभास देने के कारण, अनुकरणीय है, अतएव आदर्श है, जैसे कीचड मे कमल। कीचड कमल का यथार्थ है, क्योकि कमल का जीवन कीचड मे है और उस कीचड की सम्पूर्ण उपलब्धि का रूपदर्शन आदर्शरूप मे कमल मे किया जा सकता है। यहा द्रष्टव्य है कि दोनो एक सत्य के दो रूप है, एक-दूसरे के पूरक भी हैं। सत्य ही एक-दूसरे से असपृक्त हैं। कीचड का आदर्श या स्वरूप अथवा कमल का स्वरूप दोनो भिन्न भी है।

मनुष्य जैसा अपनेको पाता है, उसके ही परिष्कार से सभावना वास्तविकता बनती है, जोकि उसके भीतर बीज रूप मे निहित है। मानव के भीतर आदर्श प्रसुप्त पडा रहता है। उसे कही बाहर से नही लाना है, बल्कि भीतर से ही जगाना है। आदर्श कोई दूर का ग्रह-नक्षत्र नही है, जहा पहुचना हो, वरन् स्वय के भीतर ही सोई हुई शक्ति है, जिसका आविष्कार करना है। ऐसा देखने पर आदर्श और यथार्थ अपने तनाव को खो देते है। वे दो विरोधी बिदु न रहकर विकास की दो अवस्थाए बन जाते है, जिनमे एक ही शक्ति की धारा प्रवाहित है। जो नदी, पर्वत के खडो से जन्म पाती है, वही विकसित और पूर्ण होकर सागर मे विलीन होती है। यह एक ही अविच्छिन्न धारा के दो बिन्दु है। जो अत्यन्त छुद्र रूप मे प्रारम्भ हुआ था, वही विराट मे परिपूर्ण हो जाता है। गोमुख से निकली हुई गगा की धारा किस प्रकार मैदानो मे प्रवाहित हो समुद्र मे मिलती है, इसका अवलोकन जीवन-सरिता किस प्रकार चलती है, उसका भास कराता है। प्रकृति मे आदर्श रूप से जो छिपा रहता है, यथार्थ जीवन मे जब वह ठीक ढग से प्रस्फुटित होता है तभी व्यष्टि और समष्टि का जीवन कल्याणकारी ढग से चल सकता है। यथार्थ व्यवहार मे है और आदर्श भी यथार्थ के सन्निकट आने मे तभी सफल होता है जब उसका व्यवहार-पक्ष जीवन की समग्रता मे घुलमिल जाता है।

जिन्होने मानव-मन की अन्तरतम गहराइयो को जाना है और जिन्होने उनकी आत्यन्तिक ऊचाइयो को भी स्पर्श किया है, वे न आदर्शो को अस्वा-

भाविक मान सकते है और न यथार्थ की ही निन्दा कर उसके दमन की सलाह दे सकते है। वे तो दोनो को जीवन के लिए आवश्यक मानते है। जो शक्ति क्रोध मे प्रकट होती है, वह परिवर्तित होकर क्षमा वन जाती है, और घृणा का जो शक्ति-स्रोत है, वही प्रेम का मूल वन जाता है। जैसे घूरे पर पड़ी गदगी खाद वनकर सुमनो की सुगन्धि मे परिणत हो जाती है, वैसे ही मनुष्य का जो यथार्थ है वह भी रूपान्तरित होकर आदर्श की सुवास वन जाता है। ●

मनुष्य का भविष्य

स्थान (स्पेस) और काल (टाइम) की कोई सीमा नही है। जब हम गगन-मण्डल को देखते है तो हमे दिखाई पडता है कि अनन्त तारागण है। इनमे से हमारी पृथ्वी के ज्योतिषियो ने कुछ को तो ग्रह और नक्षत्रो की सज्ञा दे दी है, परतु अधिकतर ऐसे तारे है, जिनको कोई इस प्रकार की सज्ञा नही मिली। इनकी कितनी सख्या है, यह गणना भी नही हो सकी है। एक आकाश-गगा मे ही इन तारो की सख्या अनन्त है। इनमे न जाने कितने सूर्य है और न जाने उन सूर्य-मडलो मे हमारे सूर्य-मडल के सदृश्य ही कितने ग्रह-नक्षत्र है। भारत के ऋषि-महर्षियो और तत्त्ववेत्ताओ ने यह माना है कि इस सृष्टि मे अनन्त ब्रह्माड है और उन ब्रह्माडो मे अनन्त प्रकार की सृष्टि है। आज के वैज्ञानिक इस खोज मे लगे हुए है कि हमारी पृथ्वी के सदृश्य सृष्टि कितने ग्रह-नक्षत्रो मे है ? कुछ वैज्ञानिको का मत है कि अन्य ग्रह-नक्षत्रो का ऐसा वायुमडल नही है कि वहा जीवधारी हो। कुछ वैज्ञानिक इस मत के विरुद्ध मत रखते है, परतु गगन-मडल मे इन तारागणो के रूप मे जो लोक है, उनमे से केवल हमारी इस छोटी-सी पृथ्वी पर ही जीवधारी उत्पन्न हुए है, अन्य कही नही, यह विचार ही हास्यास्पद जान पडता है।

हमारी पृथ्वी के जीवन के भूगर्भशास्त्री प्रधान रूप से चार युग मानते है। एक, पृथ्वी का वह काल, जब यह पृथ्वी तरल रूप मे थी, और ठोस नही हो पाई थी। दूसरा, पृथ्वी का वह समय, जब यह ठोस हो गई थी, परतु वह वनस्पति और जीवधारियो से रहित थी। तीसरा, पृथ्वी का वह काल, जब वनस्पति-जगत् उत्पन्न हुआ, और चौथा, वह समय, जब जीवधारियो की उत्पत्ति हुई। इन्ही जीवधारियो मे विकास होते-होते मनुष्य पैदा हुआ।

मानव की सर्वप्रथम कैसे और कहा उत्पत्ति हुई, इस सबंध मे विद्वानो का मतैक्य नही। विकासवाद के सिद्धान्तो के अनुसार कुछ जीवधारियो से विकसित होते-होते मनुष्य का यह रूप बना है। यह मत लगभग एक शताब्दी पूर्व इंग्लैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन ने ससार के सम्मुख रखा था। इस मत के अनुयायी अबतक मनुष्य की उत्पत्ति 'एप', 'गिब्बन', 'ओरगउत्तान' और 'चिंपन्जी' चार प्रकार के बन्दरो की जाति से मानते थे। कुछ समय पूर्व इंग्लैंड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आचार्य सर एलिस्टर हार्डी ने प्रतिपादित किया है कि आदि-मानव एक प्रकार का समुद्री बंदर था। मानव का वर्तमान रूप धीरे-धीरे विकसित हुआ है या यह आरम्भ से ही इस रूप मे पैदा हुआ, इस सबध मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। साथ ही मानव कब और कहा उत्पन्न हुआ, इस विषय में भी, जैसा ऊपर कहा है, विद्वान एक-मत के नही है। सन् १९५२ मे ग्वालियर मे इतिहास-कांग्रेस के अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने कहा था कि आदि-मानव पजाब और शिवालक की उच्च भूमि पर उत्पन्न हुआ। अपने इस भाषण मे डॉ० मुकर्जी ने इसके कुछ प्रमाण भी दिये थे।

जो हो, हमारी पृथ्वी की सृष्टि मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसमें मत-भेद नही हो सकता। भौतिक शरीर की दृष्टि से मानव सर्वश्रेष्ठ हो, यह तो नही कहा जा सकता, क्योकि मानव से कही अधिक सुन्दर और बलवान जीवधारी है। परतु मानव को प्रकृति ने जैसी मेधा दी है, वैसी अन्य किसी प्राणी को नही। इस मेधा से मानव मे दो प्रकार की शक्तिया उत्पन्न हुई। एक को हम दैवी वृत्ति कह सकते है और दूसरी को पाशविक। अपनी मेधा-शक्ति और उसकी उन दो वृत्तियो से मानव ने लाखो वर्षों से विभिन्न प्रकार के निर्माण किये है। उन निर्माण को भी दो मोटे विभागो मे बांटा जा सकता है—आध्यात्मिक और आधिभौतिक।

बाइबिल की एक कथा है कि जब ईश्वर ने आदम और ईव को स्वर्ग के उद्यान से निष्कासित किया तब उस बाग के द्वार से निकलते हुए आदम ने ईव से कहा था कि हम एक अत्यन्त सक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहे है। इस कथा मे कोई तथ्य हो या न हो, परन्तु यह बात सही है कि मानव हर काल मे यह बात कहता रहा है। इसका प्रधान कारण है उसका अनि-

भौतिक निर्माण। इतिहास के पन्नो को उलटते हुए हम देखते है कि जैसे-जैसे इस आधिभौतिक निर्माण का विकास हुआ है, वैसे-वैसे उसपर अधिकार रखने के लिए सघर्ष, युद्ध, विप्लव आदि भी बढे है और इन युद्धो तथा विप्लवो मे जिन आयुधो का उपयोग हुआ है, उनका भी विकास होता गया है। पाषाण युग, कास्य युग, ताम्र युग और वर्तमान युग इसके प्रमाण है। विस्फोटक पदार्थ के रूप मे जब पहले-पहल बारूद ईजाद हुई, तब कोई यह नही जानता था कि वह विस्फोटक पदार्थ अणुबम और उद्जन बम तक पहुच जायगा। यदि केवल आधिभौतिक विकास मे ही मनुष्य सलग्न रहा तो इस विकास के साथ आगे चलकर ऐसे बम का भी निर्माण हो सकता है, जिससे हमारे इस भूमण्डल के टुकडे-टुकडे हो जाय, उसीके साथ इस पृथ्वी की समस्त सृष्टि का और मानव का भी सम्पूर्ण नाश हो जाय।

हम अपनी मान्यता के अनुसार ही एक सक्रमण काल से गुजरते रहे हैं। सृष्टि परिवर्तनशील है। अतीत टूटता रहा है। भविष्य अधकारपूर्ण दीखता रहा है। जिस भवन मे हम रहते आये थे, उसे हम गिरता हुआ भी देखते रहे है और नये भवन के आधार भी दिखाई नही देते रहे हैं। किन्तु इन सारे परिवर्तनो और विपत्तियो के बाद भी हम मनुष्य को बचा हुआ देख रहे हैं। कितनी ही बार लगा कि मनुष्य नष्ट हो जायगा, किन्तु मनुष्य फिर भी बच गया। इससे आशा तो बधती है कि इस सक्रमण काल को भी मनुष्य पार कर बच जायगा। किन्तु साथ ही निराशा का भी कम कारण नही है, क्योकि आज के मानव के सामने जो सकट है, वह अभूतपूर्व है।

मानव के आधिभौतिक विकास, उसमे होड और उस पर अधिकार रखने की इच्छा से इतिहास ने सघर्षो, युद्धो और विप्लवो को देखा है। इन युद्धो की परिधि और इन युद्धो मे भाग लेनेवाले व्यक्तियो की सख्या बढती गई है। प्राचीन भारत के सबसे बडे सग्राम महाभारत की सेनाओ की सख्या अठारह अक्षौहिणी थी। प्राचीन यूनान के एथेन्स और स्पार्टा के युद्धो मे तो जो लोग लडे, उनकी सख्या मुट्ठी भर थी। सन १९१४ और सन् १९३९ के दो ऐसे युद्धो मे, जिन्हे हम विश्वयुद्ध कहते है, सैनिको की यह सख्या बहुत बढ गई थी। फिर भी विश्वयुद्ध कहे जाने पर भी उन युद्धो ने हमारे समस्त भूमण्डल को व्याप्त नही किया था और हमारी पृथ्वी के समस्त

मानव इन युद्धों मे सलग्न नही थे। अपूर्ण युद्ध का अर्थ होता है कि युद्ध-रत दो पक्षो मे से एक पक्ष विजयी हो सकेगा। गत विश्वव्यापी कहे जाने-वाले दो युद्धो मे भी जयी और पराजित राष्ट्र थे, यद्यपि जो राष्ट्र जीते थे, उनकी दशा भी पराजित राष्ट्रो से अच्छी नही रही थी। अब जिस युद्ध की कल्पना कर संसार काप रहा है, वह अपूर्ण युद्ध न होकर पूर्ण युद्ध (टोटल वार) होगा और इस पूर्ण युद्ध का अर्थ यह होगा कि दोनो पक्षों मे से कोई शेष नही रह जायगा। इसका अर्थ होगा सम्पूर्ण विनाश। अपूर्ण युद्ध मे हिंसा की अपूर्ण और आंशिक शक्तियां सलग्न होती है। इसीलिए कोई हारता है और कोई जीत जाता है। हिंसा पूर्ण हो तो हार-जीत का प्रश्न ही नही उठता।

वर्तमान परिस्थिति का सामना अब केवल एक ही शक्ति कर सकती है और वह शक्ति है अहिंसा, जिसका अधिभूत से सबध न होकर अध्यात्म से है। जिस प्रकार पूर्ण हिंसा हो तो हार-जीत का प्रश्न न रहकर पूर्ण विनाश हो जायगा, उसी प्रकार यदि पूर्ण अहिंसा हो तो भी कोई हारता-जीतता नही, क्योंकि युद्ध ही नहीं होता। अबतक मानव ने पूर्ण अहिंसा की स्थिति का अनुभव नहीं किया, परन्तु पूर्ण हिंसा पर हम पहुच गये है।

शनैः-शनैः जिस प्रकार हम अध्यात्म को भूलते-भूलते अधिभूत का उत्कर्ष करते हुए वर्तमान अवस्था को पहुच गये है, यदि आगे भी हमारा गन्तव्य और गति यही रही तो मनुष्य का कोई स्वर्णिम भविष्य नही है। भावी युद्ध समग्र मानव का आत्मघात सिद्ध होगा। यह अत्यन्त विषाद की निराशापूर्ण स्थिति है, परन्तु इस स्थिति से ही आशा की एक किरण फूटी है। इस सम्पूर्ण नाश की सम्भावना के कारण मनुष्य युद्ध करने से कतरा रहा है। ऊपर कहा गया है कि मानव-मेधा मे दो प्रकार की वृत्तियां है। एक दैवीवृत्ति और दूसरी पाशविक। भविष्य मे भी मानव यदि जैसा है, वैसा ही रहा और बर्नार्ड शा की कल्पना के अनुसार कोई अतिमानव का निर्माण नही हुआ अथवा योगी अरविन्द ने मानव को आत्म विकास की चरम अवस्था में अतिमानस की भूमिका पर पहुच जाने की जो घोषणा की है, वह सत्य नही हुई, तो उसकी पाशविक वृत्ति के कारण संघर्ष सर्वथा तो समाप्त नही हो सकेंगे, परन्तु वे संघर्ष सीमित हो जायगे—दो व्यक्तियों

या दो छोटे-छोटे समुदायो मे। आज जो दो सेनाए लडती है, उनके सैनिक तो एक-दूसरे से परिचित तक नही रहते। ये युद्ध मानव की नैसर्गिक पाशविक वृत्ति के ही फल नही है, यद्यपि मानव मे जो पाशविक भावनाए है, वे न हो तो ये युद्ध सभव नहीं। इन युद्धो का प्रधान कारण है मानव द्वारा किये गए आधिभौतिक विकास और उसपर आधिपत्य रखने की लालसा। इस सम्पूर्ण आधिभौतिक विकास के नाश का भय ही उसे इस समय युद्ध से विरत रखे हुए है। यह आधिभौतिक विकास मनुष्य को इस स्थिति पर ले आया है कि आज उसके समक्ष मृत्यु या मार्ग-परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प ही नही है। इसलिए यह हो सकता है कि मानव की चेतना का पूरा मार्ग ही परिवर्तित हो जाय, क्योकि किसी भी स्थिति मे मृत्यु को चुनना अस्वाभाविक और असम्भव है।

हमारे हाथो मे हिसा की यह शक्ति विज्ञान ने दी है। विज्ञान के मार्ग से ही हम यहातक पहुचे है। विज्ञान शक्ति का अनुसधान और आविष्कार है। जिस दिन भी मनुष्य वर्तमान अभूतपूर्व सकट से विरत होना चाहेगा, उसी दिन अनिवार्य होगा कि शक्ति की जगह शान्ति का अनुसधान और आविष्कार हो। विज्ञान उस दिशा मे सहयोगी नहीं है और न हो सकता है, क्योकि उसका क्षेत्र ही आधिभौतिक विकास है। शान्ति की दिशा मे तो हमे अध्यात्म ही ले जा सकता है। यह शोध धर्म के द्वारा होती है। मनुष्य की सुरक्षा और बचाव के लिए उसके चेतना-प्रवाह को आधिभौतिक विज्ञान से आध्यात्मिक धर्म की ओर परिवर्तित करना होगा, जिसे हम भूलते जा रहे है। हम आधिभौतिक विकास के विरोधी नही है। परन्तु केवल आधिभौतिक विकास एकागी है, इसीलिए भयावह। अधिभूत और अध्यात्म दोनो का जिस बिन्दु पर सतुलन होगा, जिस बिन्दु पर विज्ञान और धर्म सतुलित हो जायगे उसी बिन्दु पर शक्ति की घातकता नष्ट हो जायगी। शक्ति और शान्ति का सन्तुलन ही मनुष्य का मगल बन उसे भविष्य मे बचा सकता है।

मनुष्य का भविष्य आध्यात्मिक धर्म के हाथो मे है। आधिभौतिक विज्ञान उसे मृत्यु पर ले आया है और इस परिस्थिति मे आध्यात्मिक धर्म ही उसे जीवन दे सकता है। ●

सत्य और उसे पाने का अधिकार

जितना पुराना मनुष्य का इतिहास है उतनी ही पुरानी उसकी सत्य की खोज है। हजारों वर्ष इस खोज पर व्यय हुए हैं, पर हम वहां पहुंचे हैं, यह कहना आज भी कठिन है। कुछ थोड़े-से व्यक्तियों ने सत्य जाना होगा, लेकिन समाज जहां था, वहीं है। समाज के तल पर सत्य की कोई उपलब्धि नहीं हुई। उसके पीछे क्या कारण है? निश्चय ही सत्य की अनुभूति वैयक्तिक है और इसलिए समाज की दृष्टि में उसकी कोई उपलब्धि नहीं दिखाई पड़ती। इसके साथ ही जिन्हें सत्य का अनुभव हुआ है उनके शब्द भी बाधा बन गये हैं। उन शब्दों के प्रति मोह पैदा हो गया है और उनसे लिपटे रहने की एक आदत बन गई है। फिर हम उन्हीं शब्दों को दोहराये चले जाते हैं, जबकि सत्य को दोहराया नहीं जा सकता। उसकी अनुभूति तो स्वयं ही करनी होती है। दोहरानेवाला मस्तिष्क बार-बार यांत्रिक रूप से दोहराने के कारण ही विचार की शक्ति भी खो देता है और वह ताजगी भी उसकी नष्ट हो जाती है, जोकि सत्य साक्षात् के लिए अत्यन्त अनिवार्य भूमिका है। ऐसे मस्तिष्क में शब्द-ही-शब्द रह जाते हैं और उनके बोझ के कारण उसकी सत्य की दृष्टि धुंधली और धूमिल हो जाती है, जबकि विचार का जन्म सदा स्वतंत्रता में ही होना है और परतंत्रता उसके जन्म में बाधा हो जाती है। दूसरों के शब्दों को दोहरानेवाले मस्तिष्क से ज्यादा परतंत्र हुआ चित्त और क्या हो सकता है? इस भांति जो शास्त्र और शास्ता सत्य की ओर इंगित करते हैं वे ही सत्य के मार्ग में बाधा बन जाते हैं। इसका उत्तरदायित्व उन शास्त्रों और शास्ताओं पर नहीं, हमपर ही है। हम उन्हें दोहराने लगते हैं और वही सब भूल हो जाती है। हम उन्हें अंधे होकर स्वीकार कर लेते हैं और इसी कारण जो रास्ते की सीढ़ियां हो सकते थे, वे ही अवरोध के पत्थर हो जाते हैं।

सत्य की ओर उन्मुख होने के लिए सभी भाति के शब्द-बधन से मुक्त हो जाना आवश्यक है, फिर चाहे वे शब्द कितने ही पवित्र ग्रथो के क्यो न हो और उन्हे कहनेवाले किसी भी स्थिति को क्यो न पहुच गये हो। चित्त शब्दो से जितना निर्भार हो, उतना ही ऊर्ध्वगमन के लिए समर्थ हो जाता है। चित्त का भार ही विवेक की शिखा को ऊपर नही उठने देता और न, जो है, उसे देखने देता है।

परमात्मा का यदि कोई शास्त्र है तो प्रकृति है। लेकिन हम प्रकृति को भी नही देख पाते है, क्योकि हम उसके सबध मे भी पूर्व धारणाओ से भरे होते है। किसी तथ्य को भी देखना असभव हो जाता है, यदि हमारे मन मे उसके प्रति कोई धारणा का पूर्वपक्ष हो। तथ्य को तथ्य की भाति देखना बडा कठिन है। वह भी एक साधना है, अन्यथा हम उसे वैसा देख लेते है, जैसा देखना चाहते है। हम स्वय के पूर्व-निर्धारित मत को ही उनपर मढ देते है। बहुत कम लोग है, जो तथ्यो को जैसे वे है वैसा ही देखते हो। और जो तथ्य को ही देखने मे समर्थ नही, वह सत्य को देखने मे समर्थ कैसे होगा ? तथ्य सत्य की ही अभिव्यक्तिया है। यदि हम तथ्य के प्राणो मे प्रवेश करे तो सत्य को पहुच जायगे। तथ्य अनेक है, सत्य एक है। जैसे किसी पथ की परिधि के किसी भी बिंदु से यदि केन्द्र की ओर यात्रा करे तो सभी बिंदुओ से चलनेवाले यात्री एक ही बिदु पर पहुच जायगे। परिधि के बिंदु अनेक है, पर केन्द्र का विदु एकही है। किंतु वे सभी बिदु उस एक बिंदु की ओर ले जाने मे समर्थ है, उन सभी गली-पगडडियो की भाति, जो जाकर अत मे उस सार्वजनिक मार्ग से मिलती है, जो सीधा और लम्बा है और अपने गन्तव्य तक गया है तथा बीच मे कही किसीसे नही मिला। इसी भाति जगत् के तथ्य है। यदि हम किसी भी तथ्य मे पूर्ण प्रवेश करे तो अन्ततोगत्वा जो केन्द्र हमे उपलब्ध होगा, वही सत्य है। तथ्य और सत्य का यही अन्तर, यही भेद, प्रकृति और परमात्मा का, जीव और ईश्वर का, भेद है। जो इस भेद, इस रहस्य, को जान जाते हैं, उन्हे सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। प्रकृति परमात्मा की परिधि है, उसका परिधान है। जिस प्रकार वस्त्र-परिधान से अलकृत किसी वस्तु के वास्तविक रूप को हम नही देख पाते है, उसे तो उस परिधान के पार ही देखा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के

पीछे जाना होगा। जिस प्रकार विस्तीर्ण फैले गहरे समुद्र के जलमय क्षेत्र मे जल के नीचे तल भी है, किन्तु पानी की अनवरत परतो के कारण हम उसे देख नही पाते, उसे वही देख पाता है जो उसका अवगाहन करता है, उसके पार जाता है, यानी उसमे गहरी डुबकी लगाता है, उसे उसका वह अनदेखा तल भी मिलता है—ऐसा तल, जहा जवाहरात भरे पड़े होते है, इसी प्रकार प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर, समुद्र के पानी की तरह उसमे सराबोर हो, उसकी सत्ता को स्वीकार कर तथा उससे अपनेको एकाकार कर, उसके पार जो जाता है, उसे परमात्मा का, सत्य का, साक्षात्कार हो जाता है।

सत्य की इस तलाश मे, सत्य के साक्षात्कार के इस अभियान मे, तथ्य को तथ्य की भाति ही देखना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि उसमे ही सत्य का द्वार है। जो मन प्रकृति के तथ्यो को धारणाओ के माध्यम मे देखता है वह तथ्य मे भी प्रवेश नही कर पाता, सत्य का तो प्रश्न ही नही है। इसी-लिए कहा है कि इसके लिए चित्त का शब्दो और शास्त्रो से निर्भार हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। हम वहां देखें, जो है। उसको उधार जानी हुई बातो से व्याख्या न करें और न दूसरो के अनुभवो से उसके संबध मे निर्णय ले। स्वय ही जाने और स्वय के अनुभव को ही निर्णायक मानें। निश्चय ही यह मार्ग कठिन और लम्बा होगा, क्योकि दूसरो के अनुभवो का मान लेने से अधिक सरल और क्या हो सकता है ? परन्तु स्मरण रहे कि दूसरो के अनुभव हमारा ज्ञान कभी नही बन सकते, न दूसरो के पैरो से चला जा सकता है और न दूसरो की आंखो से देखा जा सकता है। लेकिन जीवन मे हम यही करते है और तब आश्चर्य ही क्या है कि बहुत-से लोग जीवन को जानने से वंचित रह जाते है। यदि यह सभव हो सकता कि दूसरों के अनुभव हमारा ज्ञान बन जाते तो सत्य सामाजिक उपलब्धि बन जाता। कुछ लोग सत्य को साधना से पा लेते और फिर शेष सबको वह मुफ्त मे ही मिल जाता। यह तो चेतन के तल की बात है। अचेतन तल भी हम देखें। गंगो-त्री से गंगासागर की लम्बी यात्रा गंगा को ही करनी पड़ी। यह सही है कि मार्ग मे अगणित नद, नाले और सरिताएं उसे मिली, उसमें आत्मसात् हुई, उसकी यात्रा मे सहभागी बनी, किन्तु संकल्पत. सम्पूर्ण यात्रा किस ।

की ? कौन कहेगा, यमुना ने की, सरस्वती ने की, अलकनन्दा, मन्दाकिनी अथवा मार्ग मे मिलनेवाली किसी अमुक सरिता ने की। सभीका उत्तर है, और होगा, गगा ने की। गगोत्तरी से गगासागर तक सभी यात्रा करे, यह जिस प्रकार नही हो सका, और न सभव है, उसी प्रकार सत्य का साक्षात्कार सामूहिक रूप से न हो सका है, और न हो सकेगा। सत्य स्वरूपत स्वानुभव है। यह उचित भी है, यही उसका सौदर्य है और इसमे ही उसकी उपलब्धि का रस एव आनद है। वस्तुत जिस वस्तु को पाने मे जितनी ही साधना और तपस्या लगती है उसकी उपलब्धि उतनी ही आनदपूर्ण हो जाती है। हमारा श्रम और तप ही उसमे आनद को उत्पन्न करता है। सत्य का आनद उसकी साधना मे है।

यदि यह बोध स्पष्ट हो कि जो भी जीवन मे मूल्यवान् है, सत्य है, शिव है या सुन्दर है, उस सबको पुरुषार्थ से पाना होता है, तो शास्त्रो, गुरुओ और अन्यो पर निर्भर होने की वृत्ति ही विलीन हो जाय। यह वृत्ति विलीन होनी चाहिए। उसके कारण ही अनेक समर्थ लोग सत्य के अनुभव से वचित रह जाते हैं और उस वृत्ति के कारण ही सर्वाधिक सूक्ष्म और घातक शोषण चलता है। आजकल शोपण शब्द बहुत सुना जाता है, परन्तु यह आर्थिक क्षेत्र मे है। लेकिन शोषण केवल आर्थिक ही नही होता, अन्य क्षेत्रो मे भी हो सकता है। इस शोपण का भयकर क्षेत्र है बौद्धिक क्षेत्र। बौद्धिक स्तर पर किया जानेवाला शोपण सभी क्षेत्रो मे असरकारक होता है। जब कुछ लोग परावलम्बन खोजने लगते है तो निश्चय ही उस वृत्ति का शोषण कर लाभ उठानेवाले पैदा हो जाते है। धर्म के नाम पर हजारो वर्षो से हो रहा शोपण इसी परावलबन की अपेक्षा पर आधारित है। उससे ही धर्म गुरुडम और दुकानदारी मे पतित हुआ है। फिर स्वाभाविक है कि शोषण की इन प्रतियोगी दुकानो मे सघर्ष हो और कलह हो, सप्रदाय बने और वैमनस्य फैले, सगठन हो और परमात्मा के नाम पर मनुष्य की हत्या हो। हत्या केवल शारीरिक हत्या ही नही है, मानसिक हत्या भी है। मानसिक हत्या शारीरिक हत्या से कही अधिक बुरी है। मानसिक हत्या के क्षेत्र मे उस हत्या को, जो शुभ रूप देकर प्रोत्साहित किया जाता है, और इस प्रोत्साहन का नाना प्रकार से प्रचार किया जाता है, उससे यह हत्या है, यह बोध ही

नहीं हो पाता। जो वस्तु निकृष्ट होते हुए उत्तम समझी जाने लगे, उससे अधिक हानि निकृष्ट मानी जानेवाली वस्तु से भी सम्भव नहीं है। इस भांति धर्म, धर्म न रहकर अधर्म हो जाता है। इस सबके मूल में परावलम्बन की वृत्ति है। यह भाव ही कि सत्य कहीं से, और किसीसे, पाया जा सकता है, सारे उपद्रव की जड़ है। इस प्रकार यह परावलम्बन ही वह व्याधि है, जो जीवन की जगह प्राणहानि का हेतु बन जाती है।

सत्य स्वयं में है, सबके निकट है। सबको उसे पाने का स्वयंसिद्ध अधिकार है। जो भी जीवन के तथ्यों को निष्पक्ष और निर्दोष चित्त से देखेगा, वह उसे पाने में समर्थ हो जायगा। शास्त्र को छोड़ दें, यदि सत्य को पाना है। सम्प्रदाय को छोड़ दें, यदि धर्म को पाना है। दूसरों का अनुगमन छोड़ दें, यदि स्वयं को पाना है। परमात्मा को पाना हो तो परमात्मा के संबंध में जो भी सीखा है, उसे छोड़ देना आवश्यक है। स्वतंत्र चित्त ही सत्य की उपलब्धि का अधिकारी होता है। ●

विचार और विचार-शक्ति

विचारो से घिरे होने और विचार करने की शक्ति मे बडा भेद है। बहुत-से विचार अनिवार्य रूप से विचार-शक्ति के प्रमाण नही होते। सामान्यत तो विचार-शक्ति की कमी को ही विचारो से भरकर पूरा कर लिया जाता है। स्वय विचार का जितना अभाव होता है, उतना ही दूसरो के विचारो से उसे छिपा लेने की प्रवृत्ति भी होती है। अज्ञानी तो कोई भी नही दीखना चाहता। इसलिए ज्ञानी दीखने का सरलतम मार्ग होता है दूसरो के विचारो को सग्रह कर लेना। वस्तुत सभी सग्रह आतरिक दरिद्रता के द्योतक होते है। सग्रह या परिग्रह स्वय की और दूसरो की आखो मे भीतर की दरिद्रता न दीखे, इसके उपाय है। तथाकथित उधार ज्ञान, जीवन के सभी क्षेत्रो मे स्वय की दरिद्रता से पलायन है। आत्म-वचना के बहुत उपाय है। किसी भी भाति का सग्रह सर्वाधिक प्रचलित उपाय है। धन के इकट्ठे करने से दरिद्रता नही मिटती और न व्यक्तित्व की समृद्धि पैदा होती है। सम्पत्ति तो व्यक्तित्व को छू भी नही पाती। वह बाहर है और बाहर ही हो सकती है। लेकिन उससे भ्रम पैदा हो जाता है। किसी सूफी फकीर ने एक बहुत ही दीन और दरिद्र व्यक्ति से कहा था कि तेरे कपडे ही दरिद्र है, तू कहा है और निश्चिय ही किसी सम्राट को भी कहा जा सकता है कि तेरे कपडे ही समृद्ध है, तू कहा ? इसलिए कि मात्र कपडे छीन लेने से ही सम्राट दरिद्र हो सकता है। तब तो स्पष्ट है कि सम्पत्ति से मिली दरिद्रता या समृद्धि आच्छादन से अधिक नही जाती। यही बात विचारो के सग्रह के सबध मे भी सत्य है। विचार का सग्रह भी व्यक्तित्व को नही छूता। उसका होना भी बाहर ही है। ऐसे कितने विद्वान् है, जो बडी-बडी डिग्रियो, उपाधियो और अर्जित ज्ञान के साथ-साथ व्यक्तित्व से भी भव्य और भरे-पूरे है। देखने पर मालूम होगा कि चाहे कोई अपने विषय मे कितना ही दक्ष, नियमित और डिग्री अथवा

उपाधिधारी हो, व्यक्तित्व की दृष्टि से निरीह ही दीखेगा। कारण स्पष्ट है। ऐसे लोगो को जो ज्ञान उपलब्ध होता है, अथवा उनके पास ज्ञान का जो भण्डार है, वह स्रोतहीन स्मृतिमात्र है। स्मृति विचार की शक्ति के लिए आच्छादन से ज्यादा और कुछ नही है। अब तो विचार के सग्रह को करने-वाले यत्र उपलब्ध है, और ऐसे भी यत्र उपलब्ध है, जो सभी तरह के प्रश्नों के उत्तर देने मे भी समर्थ है। उनके आविष्कार ने स्मृति की यान्त्रिकता को सिद्ध कर दिया है। फिर मनुष्य से तो भूल-चूक भी होती है, इन यत्रों से तो भूल-चूक भी नही होती। परिपाटीवाले ज्ञान का भोजन उन्हे दे दिया जाय तो सभी तरह के उत्तर उनसे निकलते आते है। उन्हे कोई विस्मृति भी नही होती। इसलिए वे मनुष्य की स्मृति मे कही ज्यादा कुशल और भरोसे योग्य है। इसी भांति क्या हम भी अपनी स्मृति को भोजन नही देते रहते? और क्या प्रश्नो के उत्तर जो हमसे आते है वे हमारी स्मृति से नही आते? इस स्थिति में तो हम भी सचेतनता का नही, यान्त्रिकता का ही सबूत देते है। विचार-सकलन तथा सग्रह और उसी सग्रह को ज्ञान मान लेना जीवन मे होनेवाली बडी-से-बडी भूल है। स्मृति ज्ञान नही है, एक प्रक्रिया है, क्योकि स्मृति तो यत्र की भी हो सकती है। ज्ञान स्मृति से बहुत भिन्न बात है। वह स्मृति कभी नही हो सकता। अर्थात् ऐसे यत्र कभी विकसित नही हो सकते है, जिनमे ज्ञान हो। फिर यदि हम स्मृति को ही ज्ञान समझ लें तो मनुष्य भी एक यन्त्र से ज्यादा नही रह जाता। विचार के सग्रह से ज्ञान का जो भ्रम पैदा होता है वह मनुष्य को ऐसा ही यत्र बना देता है। इसीलिए पाण्डित्य हमेशा यांत्रिक रहा है और पंडित के मस्तिष्क से ज्यादा जड मस्तिष्क खोजना कठिन है। प्रश्न के पहले ही उसका उत्तर तैयार रहता है। आप प्रश्न करिये, उत्तर मौजूद है। उसे सोचना नही पड़ता, उसे विचारना नहीं पड़ता। असल मे उत्तर उनसे नही, उनकी स्मृति मे आ जाता है। ज्ञान उन्होने सग्रह किया है, उसी सग्रह से उत्तर दिया जाता है। हमारे सामा-जिक जीवन मे ज्ञान-सग्रह् की इस धूर्तता के अनेक नमूने मिलते है। उदा-हरण के लिए रामचिरैया के द्वारा बाजारो की पटरियो पर बैठे पढित लोग लोगों को उनके मनोकल्पित प्रश्नों के उत्तर दिलाते है। मनोकल्पित प्रश्नों का यह उत्तर एक बड़ा अजीबोगरीब तरीका है। प्रश्नार्थी अपने

मन मे अपनी किसी शका, समस्या या मनोकामना का स्मरण करता है, और उधर पालित रामचिरैया का मालिक पडित सर्कस के जानवरो की भाति पिजड की खिडकी ऊपर खीचता है, अभ्यस्त रामचिरैया पिजडे के ठीक सामने एक पक्ति मे रखे हुए कागजो की परत मे से एक कागज को अपनी चोच मे दबाकर उसे पक्ति से पृथक कर देती है। पडित उसे उठाकर उत्सुक प्रश्नार्थी को देता है। वह उसमे अपने प्रश्न का उत्तर पढ लेता है और प्राय सतुष्ट होकर पडित को दक्षिणा देकर चलता बनता है। इधर रामचिरैया अपना चून लेकर पुन पूर्ववत् पिजडे मे पहुच गई होती है। यह सारी प्रक्रिया यन्त्रवत् बडी शीघ्रता से सम्पन्न हो जाती है। प्रश्नो का उत्तर अथवा समस्याओ का निदान जो एक छपे हुए कागज मे पूर्व अकित है और जिसे एक पक्षी की सहायता से पाकर जो लोग सतुष्ट होकर जाते है उनसे अधिक हास्यास्पद और दयनीय कौन हो सकता है ! यही कारण है कि जीवन की समस्याए नित्य बदल जाती है, लेकिन शास्त्रीय मस्तिष्क के उत्तर नही बदलते। वह तो अपने पुराने उत्तर ही दिये चले जाते हैं। वस्तुत उसे समस्या दिखाई ही नही पडती। वह समस्या के अनुकूल समाधान नही, वरन् अपने पूर्वनिर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखता है। वह उस दर्जी की भाति है, जिसकी दूकान मे बने-बनाये कपडे रहते हैं। वह शरीर के अनुकूल वस्त्र नही, वरन् वस्त्रो के अनुकूल शरीर को चाहता है। यदि उसके वस्त्र ठीक नही बैठते हैं तो जरूर शरीर मे कही भूल है। और यदि कोई परिवर्तन ही होना है तो वह वस्त्र मे नही, शरीर मे ही करना होगा। इस जड़तापूर्ण मन स्थिति के कारण जीवन की कोई भी समस्या हल होने के बजाय और भी उलझ जाती है। उलझन अनेक बार सामाजिक सघर्षो को उत्पन्न करती है। कई बार ऐसे मतभेद उठते है, जिनपर वे शास्त्री फतवे के रूप मे अपने मत व्यक्त करते है, परन्तु अधिकाश मे ये मत होते है किसी पुरानी परिस्थिति पर अवलबित। उदाहरण के लिए हिन्दू समाज मे जब सर्वप्रथम विधवाओ के पुनर्विवाह का प्रश्न उठा और अस्पृश्यता-निवारण का, उस समय ऐसे शास्त्रियो की कमी नही रही, जिन्होने विधवा-विवाह और अस्पृश्यता-निवारण का विरोध धर्म के नाम पर किया हो। किसी जमाने मे इस प्रकार की प्रथाए

आवश्यक रही होगी, परन्तु आज की परिस्थिति उस जमाने के ठीक प्रतिकूल है। शास्त्रियो के ये फतवे उस काल के अनुकूल हो सकते है पर इस काल के अनुरूप नही। ऐसे ही अनेक प्रश्नो पर कुछ पुराने कथन उद्धृत कर दिये जाते हैं। रामचरितमानस की दो चौपाइयो को लीजिये—"कोउ नृप होइ हमें का हानी" तथा "ढोल गवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताडन के अधिकारी।" पहली मथरा की उक्ति है, जो उसने खीझ के कारण दी थी तथा कैकेयी को विचलित करने के लिए व्यग्य रूप मे उसने यह वाक्य-प्रहार किया था। दूसरी, किसने किस परिस्थिति मे कही, बिना इस बात पर विचार किये। गोस्वामीजी की चौपाइयों का अर्थ एक ओर जितना सरल है, दूसरी ओर उतना ही गूढ भी। यह भूलकर लोग किस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं, जबकि उक्त चौपाई का भावार्थ है ढोल बिना चोट अथवा पीटे नही बज सकता तथा शूद्र, जो गवार हो एवं ऐसी नारी जिसका आचरण पशुवत् हो, बिना ताडना के अथवा दण्ड के नैतिक आचरण नही कर सकते। तुलसीदासजी का उक्त कथन समस्त शूद्रो एव नारी-जाति पर लागू होता तो निषाद् जैसे शूद्र और शबरी जैसी नारी को उनके रामचरितमानस मे यह महत्व कैसे मिलता! इससे स्पष्ट है कि अपने मत का पोषण करने के लिए इस प्रकार के कथन किस प्रकार विकृत-से-विकृत रूप मे उद्धृत किये जाते हैं। इसी संग्रहवादी दृष्टिकोण के कारण ही हम किसी भी समस्या को न तो समझने मे समर्थ हो पाते है और न उसका कोई जीवन्त हल खोजने मे जीवन आगे बढाया जाता है। हम मुर्दा समाधानो मे लिपटे रह जाते है। शास्त्रीय दृष्टि सदा ही पीछे की ओर होती है। उसकी नजरें हमेशा अतीत मे लगी रहती है। यह स्वाभाविक ही है, क्योकि स्मृति मृत की हो सकती है और अतीत की ही हो सकती है। इसीलिए विचार का सकलन ज्ञान नही, बल्कि अविचार की ही सूचना है।

विचार की शक्ति जगाने के लिए विचारो का भार कम-से-कम होना चाहिए। स्मृति का मृत बोझ जितना कम हो, उतना ही अच्छा है। जीवन जो समस्याए खडी करे, उन्हे हमे स्मृति के माध्यम से नही, सीधे ही देखना चाहिए। उनके प्रति जो हमारी प्रतिक्रिया हो, वह सीधी और वर्तमान से होनी चाहिए। हमारा सपर्क समस्या से जितना सीधा होगा उतना ही ज्यादा

उस समस्या को समझने मे हम समर्थ और उसके समाधान को लाने मे सक्षम हो सकेंगे, फिर वह समस्या चाहे किसी भी तल की क्यो न हो। जीवन के आध्यात्मिक विकास मे तो यह दृष्टि और भी अनिवार्य है। यान्त्रिक समस्याए तो स्मृति से ही हल हो जाती है; क्योकि यंत्र जड और स्थिर है। प्रश्न तो जीवन की समस्याओ का है और आत्यन्तिक रूप से चेतना की समस्या का है—उस चेतना का जो एक पल भी स्थिर नही रहती और ऐसी चेतना के सबध मे उस तल पर कोई बधा हुआ उत्तर काम नही दे सकता। कोई शास्त्र, कोई समाधान, जो दूसरे से आता हो, जिसका अतीत से सबध हो, वर्तमान से नही, वह सब यहा व्यर्थ है। यहा तो स्वय के विचार और विवेक के जागरण से ही मार्ग मिलता है, ऐसे जागरण से, जो सरिता-निस्सरण-सा सतत् प्रवहमान हो। ●

२५

एकान्त आनन्द की आधार-भूमि

जीवन मे जो भी श्रेष्ठ है उसका जन्म सदा एकान्त मे होता है। भीड मे न तो सत्य की अनुभूति होती है, न सौंदर्य की। जो व्यक्ति चौबीसो घंटे भीड से घिरे रहते है, उनकी अनुभूतियो मे क्षुद्र के अतिरिक्त विराट् का कोई सस्पर्श नही हो पाता। विराट् का बोध अत्यन्त अकेलेपन मे ही जन्म पाता है। मानव को स्वयं साक्षात् के हेतु अकेला रहना आवश्यक है। जब हम दूसरो से नहीं घिरे रहते, तब हम स्वय के आमने-सामने आ जाते है। निरतर भीड से घिरे रहने से हम भूल ही जाते है कि हमारा भी कोई अस्तित्व है। हम स्वयं को भूल जाते है और यह आत्म-विस्मरण ही जीवन की सबसे भारी भूल है।

हमारे युग ने इस भूल की जडो को बहुत गहरा कर दिया है और बहुत से ऐसे साधन जुटा दिये है, जिनमे उलझकर हम स्वय का विस्मरण किये रहते हैं। रेडियो, फिल्म, टेलीविजन, अखबार और अत्यन्त नीचे स्तर का साहित्य, इन सबने हमारे मन को इतना भर दिया है कि उसे स्वय की स्मृति के लिए कोई अवकाश ही नही रहा। सोकर उठने से सोने तक हम इस भाति किसी-न-किसी वासना के पीछे भाग रहे है कि स्वयं की सत्ता के प्रति जागने का न हमे समय है, न अवसर। आज का मनुष्य इस प्रकार स्वयं से ही विच्छिन्न हो गया है। वह सदा अपने बाहर रहता है, अपने भीतर कभी नही। इसके घातक परिणाम हुए है। सबसे बडा यह कि आज के मनुष्य की आंखें अपने से ऊपर देखने मे असमर्थ हो गई हैं। निश्चय ही मनुष्य के पैर तो जमीन पर है, किन्तु उसकी आंखें आकाश की ओर होनी चाहिए, तभी उसमे विकास के अकुर फूटते है। जो अपने से ऊपर देखना बंद कर देता है, उसका ऊपर उठना ही बद हो जाता है। एक कथा है कि सुकरात से किसी पूर्वीय दार्शनिक का मिलन हुआ। उसने सुकरात से पूछा

आप किस सम्बन्ध मे चिंतन करते है ? सुकरात ने कहा—मनुष्य के। वह पूर्वीय तत्त्व-वेत्ता इसे सुनकर बहुत हँसने लगा और बोला—जो ईश्वर के सबध मे नही जानता, वह मनुष्य के सम्बन्ध मे क्या जान सकेगा ? बीज को केवल वही जानते है, जो वृक्ष को जान लेते है।

इसके लिए कि मनुष्य की आखे भूमि से उठ सके, इसके लिए कि मनुष्य स्वय मे शरीर के अतीत देख सके, इसके लिए कि वह पार्थिव मे अपार्थिव का अनुसधान कर सके, इसके लिए कि मृण्मय मे उसे चिन्मय के दर्शन हो सके, एकान्त अवसर है, एकान्त साधन है। इसके लिए केवल बाहरी भीड से दूर होना ही यथेष्ट नही, बल्कि भीतर से भी भीड का दूर होना आवश्यक है। स्वय को भीड से दूर ले जाओ और भीड को चित्त से दूर कर दो। इतने अकेले हो जाओ कि तुम्हारे अतिरिक्त बाहर का, यहा तक कि विचार मे भी, कोई न हो। गोस्वामीजी ने कहा है—

गो गोचर मुंह जह लगि जाई।
तह लगि माया जानई भाई॥

सर्वविस्मृति को उस घडी मे क्षुद्र से छुटकारा और विराट् से सम्मिलन हो जाता है। उस समय व्यक्ति स्वय को जानता है और जो स्वय के ऊपर है, उसे भी। इस अवस्था को ही ध्यान कहा गया है।

मानव सामाजिक प्राणी है। भीड से उसका सम्बन्ध रहता है, परतु उस सम्बन्ध के पूर्व मनुष्य को अपनेको जानना आवश्यक है। हमारे देश मे हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो ने समाज से अपना सम्बन्ध तोडा नही था, परतु इस सबध के साथ वे अपनेको जानने का भी यत्न किया करते थे और अपनेको जान लेने के पश्चात् सामाजिक जनरव का उनपर कोई प्रभाव नही होता था। सिद्धार्थ ने वर्षो एकान्त साधना की थी और इस साधना के फलस्वरूप बुद्ध पद प्राप्त कर वे फिर समाज मे आये और तब उनपर समाज की भीड का कोई असर न हो पाया, वरन् उस भीड ने उनका अनुसरण किया। आधुनिक काल मे महात्मा गाधी ने निरतर इस भीड मे रहते हुए अपने से सम्पर्क बनाये रखने के लिए सप्ताह मे एक दिन मौन व्रत रखने की एक नई प्रणाली निकाली। हमारे स्वर्गीय प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू अनेक बार इस बात पर अत्यन्त क्षुब्ध हो जाते थे कि

उन्हे एकान्त के कुछ क्षण प्राप्त होना भी दुश्वार हो गया था। गांधीजी के मौन दिवसो और जवाहरलालजी के इस क्षोभ का मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

मनुष्य के वास्तविक पुनरुत्थान के लिए उसे एकान्त की शिक्षा और साधना देनी होगी। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन या प्रतिदिन न हो सके तो सप्ताह में, पक्ष मे, या मास मे कुछ समय तो ऐसा अवश्य ही निकालना चाहिए जब कि दुनिया उसकी निगाह से दूर हो गई हो, और वह भी दुनिया की निगाह से दूर हो गया हो। मृत्यु के इस प्रकार के प्रयोग से भीतर प्रसुप्त बहुत-सी शक्तियां जाग्रत होती है और तन-प्राण मे अलौकिक ऊर्जा का संचरण अनुभव होता है। बहुत-से सोये केंद्र सजग और सक्रिय हो जाते है। योग की पारिभाषिक शब्दावली मे इसे कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है। जैसे पानी के प्रत्येक कण मे विद्युत सोयी हुई है और पदार्थ के प्रत्येक अणु मे विराट शक्ति अन्तर्निहित है, वैसे ही मनुष्य के अणु-अणु मे भी परमात्मा सोया हुआ है। प्रत्येक क्षुद्रतम व्यक्ति भी अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य को अपने मे लिये है। ऊर्जा के उस स्रोत को निर्माण करने के लिए, व्यक्ति जो करता है, उसीका नाम योग है। समस्त योग की आधार-शिला पूर्ण एकान्त की अनुभूति पर रखी जाती है। सबमे रहो, किंतु स्वयं अपने मे भी रहो। इमर्सन ने एक स्थान पर कहा है—"संसार की भीड़ मे भीड़ के मत से जीना अत्यन्त आसान है और अरण्य के एकान्त मे आत्म-केंद्रित होना भी। किंतु पूर्ण विकसित मनुष्य वह है, जो भीड़ के मध्य एकान्त की स्वतंत्रता को उसके पूरे माधुर्य के साथ सुरक्षित रखता है।" एकान्त मे जाने का मूल्य या अभिप्राय एकान्त मे ही अटके रह जाना नहीं है, अपितु जो एकान्त मे जाना गया हो, उसे सबके बीच भी अनुभव करना है। हमारे ऋषि-मुनियो ने यही किया था। तथागत बुद्ध, तीर्थंकर महावीरस्वामी, जगतगुरु शंकराचार्य एवं अन्य आचार्यों और महात्मा गांधी ने भी यही किया था। एकान्त के अनुभव के पश्चात् सच्ची परीक्षा तो भीड़ मे ही होती है, कसौटी वही है। यदि वस्तुतः भीतर एकान्त का अनुभव हुआ हो तो संसार की सारी भीड़ भी उस अनुभव को नष्ट नहीं कर सकती। जिसने एकान्त मे स्वयं की सत्ता के आनन्द को और सौंदर्य को जाना है, वह किसी भी

परिस्थिति मे और किसी भी स्थान पर उसे विस्मरण नही कर पाता । इस सत्य का सगीत तो उसमे सतत् निनादित होता रहता है । उसकी अनुभूति फिर श्वास-प्रश्वास की भाति हो जाती है । उस आनद की निरतर उपस्थिति के कारण ही, उसे किन्ही अन्य सुखो की आकाक्षा नही रह जाती । जल मे रहते हुए भी कमल-पत्र जिस प्रकार उससे विलग रहता है, उसी प्रकार समष्टि मे रहते हुए भी उस व्यष्टि की स्थिति रहती है । उस सच्चे आनन्द को जान लेना ही ससार से सच्ची अनासक्ति है । ●

"मैं कौन हूं ?"

महर्षि-रमण से किसीने कहा, "मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूं। क्या आप करा सकेंगे ?" श्री रमण ने कहा, "ईश्वर के दर्शन नही, लेकिन तुम्हे ईश्वर बना सकता हू।" वस्तुत. हम जिसे देख सकते है, वह हमारा स्वरूप नही हो सकता और यदि परमात्मा व हमारा एक स्वरूप है, तो उसका दर्शन असम्भव है। परमात्मा के नाम से जो दर्शन हमें होते है, वे हमारी ही कोई कल्पनाए होगी। आत्म-दर्शन असम्भव है। वह शब्द ही असगत है।

धर्म के साहित्य मे बहुत स्थानों पर कहा गया है—"स्वय को जानो।" वैसे जो भी जाना जा सकता है, वह 'पर' होगा। 'स्व' तो वह है, जो जानता है। 'स्व' अनिवार्य रूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नही बनाया जा सकता। जहा भी ज्ञान की घटना सम्भव होती है, वहां कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। जो जानना है, उसे ही जानने की चेष्टा, आखो को उसी आख से देखने के समान है। खेल में कुत्ते अपनी पूछ पकडने की चेष्टा करते है। वे जितनी तीव्रता से झपटते है, पूछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। यह हो भी सकता है कि कुत्ता अपनी पूछ पकड़ ले, किन्तु स्वयं को ज्ञेय बनाना सम्भव नही है।

फिर आत्म-ज्ञान का क्या अर्थ होगा ? क्या आत्म-ज्ञान नही हो सकता ? क्या आत्म-ज्ञान की सारी बातें व्यर्थ है? नही आत्म-ज्ञान हो सकता है, लेकिन ज्ञान का सामान्यत. ज्ञेय से जो सम्बन्ध है और जो अर्थ है, उससे बहुत ही भिन्न और विपरीत अर्थों मे। जगत् की सारी वस्तुएं ज्ञेय की भांति जानी जाती हैं। स्वय को तो ज्ञेय की भांति जानने का प्रश्न ही नही। उसे जानने की विधि तो यह है कि चित्त के समक्ष यदि कोई ज्ञेय न रह जाय तो उस निर्विषय चैतन्य मे जो अनुभूति होती है, वही आत्म-

ज्ञान है, यद्यपि उसे आत्म-ज्ञान कहना ज़रा भी उचित नही, क्योंकि वहा न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय। वहा कोई भी द्वैत नही है। ज्ञान तो दो के बीच का सम्बन्ध है। वहा न दो है, न कोई सम्बन्ध। इसलिए उसे, अच्छा हो कि 'जानना' (नोइग) न कह कर 'होना' (बीइग) कहा जाय। वह ज्ञान न होकर अनुभूति है। चूकि मनुष्य की सारी भाषा द्वैत पर खडी है और अद्वैत अनुभूति से प्रकट करने के लिए उसके पास कोई सकेत नही है, इसलिए कहा गया है कि सत्य के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। लाउत्से का वचन है, "जो भी कहा जायगा, वह असत्य होगा।" फिर कहे विना कोई उपाय नही, और जिन्होने सत्य को अनिर्वचनीय कहा है, वे जीवन भर सत्य के ही विषय मे बोलते रहे है। इस असगति के पीछे बडे गहरे कारण है। ज्ञान कहा नही जा सकता, इसे वे जानते है, और प्रेम विना कहे रहने नही देता। जो उन्होने जाना है, जो उन्होने पाया है, गूगे के इशारे ही सही, किसी भी भाति जीवन के अधकार-पथ पर लडखडाते सद्-यात्रियो को वे अपनी अनुभूति जता देना चाहते है। उनके शब्दो को जो पकड लें, वे नासमझ है। शब्दो को फेक दे, इशारे को पकड ले। शब्दो को पकडने से सम्प्रदाय बन जाते है और इशारो को पकडने से साधना का जन्म होता है। कृष्ण, महावीर, वुद्ध, ईसा, कन्फ्यूशस, लाउत्से आदि के शब्द तो भिन्न है, किन्तु इशारा एक ही है।

आत्मज्ञान की खोज मे जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भाति खोजने निकलते है, वे भूल मे पड जाते हैं। जैसे आत्मा को ज्ञेय नही बनाया जा सकता, वैसे ही उसे किसी आकाक्षा का लक्ष्य नही बनाया जा सकता, क्योंकि जिसे पाना है, वह पानेवाला ही है। खोज और खोजी भिन्न नही है और आत्मा को केवल वे ही जान पाते है, जो सब जानने मे शून्य हो जाते हैं। जब जानने को कुछ भी शेष नही रहता तो चेतना स्वय मे प्रतिष्ठित हो जाती है, और जब पाने की कोई भी दौड नही रह जाती, तो हम उस स्थान को जान जाते हैं, जहा हम सदा से खडे है। बुद्ध को जब समाधि उपलब्ध हुई और किसीने उनसे पूछा कि उन्हे समाधि से क्या मिला तो उन्होंने कहा, "मिला कुछ भी नहीं, और खोया बहुत-कुछ। वासना खोई, विचार खोये, सब भाति की दौड खोई और पाया वही जो सदा से पाया हुआ

है और जिसे कभी भी खोया नहीं था। जो सदा से पाया हुआ है, जिसे कभी खोया भी नहीं जा सकता, उसका ही नाम 'स्वरूप' है। उस 'स्वरूप' को जानना है तो उसका उपाय यही है कि जो कभी खोया हो, या कि जिसे खोया जा सकता हो, उन सबको स्वयं ही छोड़ दिया जाय। फिर जो शेष रह जाता है, वही 'स्वरूप' है। वेदान्त के 'नेति-नेति' महावचन का यही अर्थ है, वह स्वरूप को पाने की विधि है। जो प्रज्ञा मे विषय बनता है, जानता है कि "यह भी मै नही," "यह भी मैं नही"। इस भाति जब कोई भी विषय कहने को न रह जाय कि "यह भी मैं नही" तब उस निर्विषय और निर्विकल्प बोध मे जो मैं हू, उसका उद्घाटन अथवा अनुभूति होती है और यह जान लिया जाता है कि मैं कौन हू। ●

२७

अनासक्ति योग

यह माना जाता है कि श्रीमद्भगवद् गीता से महान् ससार मे तत्त्व-ज्ञान का और कोई ग्रन्थ निर्मित नही हुआ। यह मान्यता केवल इसी देश मे नही है, परन्तु अब सारे ससार के पक्षपातरहित समस्त क्षेत्र मे हो गई है। गीता पर जितनी व्याख्याए और टीकाए इस देश और ससार मे लिखी गई उतनी शायद अन्य किसी ग्रन्थ पर नही। इस देश मे आचार्यत्व पद पाने के लिए तो गीता पर व्याख्या करना अनिवार्य था। श्री शकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य और श्रीवल्लभाचार्य चारो प्रमुख आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से गीता पर भाष्य लिखे है। आधुनिक काल मे लोकमान्य तिलक, योगिराज अरविन्द घोष और महात्मा गाधी ने भी गीता की अपनी-अपनी दृष्टि मे व्याख्या की है। गाधीजी ने जो छोटी-सी पुस्तक गीता पर लिखी है, उस पुस्तक का नाम ही 'अनासक्ति योग' रखा है। कर्म के फल की इच्छा छोड अनासक्त हो कर्म करने का जैसा विवेचन गीता मे है, वैसा अन्यत्र है भी नही।

इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि आसक्ति दु ख है। यह स्वाभाविक ही है, जिसमे सुख मिले उसमे दु ख भी मिले। सुख और दु ख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा है—"जिनसे सुख मिले, उसमे सावधान रहना, क्योकि कल वही दु ख का कारण होगा।" दु ख सुख की छाया है। वह सदा ही सुख के पीछे सलग्न रहता है। अपने पुत्र जगमोहनदास के निधन के पश्चात् इसका मुझे उत्कट अनुभव हुआ है। अनेको का यह अनुभव होता है, यह मैं जानता था, परन्तु किसी तथ्य को जानना एक बात होती है और उसका अनुभव करना सदा दूसरी। मैने जीवन मे कष्ट कम नही सहे। अपनी सारी परिस्थिति के प्रतिकूल लम्बे जेल-जीवन महान् कष्ट-प्रद थे, परन्तु कष्ट एक बात होती है, दु.ख सर्वथा दूसरी। मैं

अपनेको बहुत ही सुखी मानता था, लेकिन जगमोहनदास के जाते ही सारा सुख दुःख में परिणत हो गया। कारण स्पष्ट है कि जो सुख मुझे था, वह जगमोहनदास में आसक्ति के कारण था।

इस तथ्य का दर्शन अनासक्ति के विचार को जन्म देता है। विचार में यह जान पड़ता है कि यदि आसक्ति से दुःख मिलना है तो हम आसक्ति को ही छोड़ दें। इस भांति आसक्ति का निषेध पैदा होता है। व्यक्ति अपने आचरण को आसक्ति के केन्द्र से हटाकर अनासक्ति के केन्द्र पर आयोजित करने लगता है। मैंने गत एक वर्ष में यही करने का यत्न किया। इसमें यद्यपि मुझे अबतक सफलता नहीं मिली है, किन्तु यह भास होता है कि यदि इसमें सफलता मिल जाय तो दुःख तो शायद मिट भी जायगा, किन्तु आनन्द की उत्पत्ति नहीं होगी। जो सुख मिटा है, उसके साथ दुःख भी चला जायगा। परन्तु मुझे इस एक वर्ष में जो अनुभव हुआ है, उसके तथा अनेक विद्वानों से जो मेरी चर्चा होती रहती है, उसके आधार पर मैं अब इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि जबतक व्यक्ति अपनी क्षुद्रता से उठकर विराट् ब्रह्म का अनुभव नहीं करता, तबतक अनासक्ति के इस निषेध-मार्ग से भी वह सीमित और केन्द्रित हो जायगा। केवल त्याग से व्यक्ति सिकुड़ता है। एक ओर आसक्ति और दूसरी ओर केवल अनासक्ति अर्थात् निषेध इस प्रकार दोनों ही मुद्दों पर जीवन को केन्द्रित करना आत्मघातक है। आसक्ति तो बुरी है ही, परन्तु वास्तविक अनासक्ति आसक्ति के निषेध से शायद नहीं लाई जा सकती। उसकी उपलब्धि तो आत्मिक आनन्द के परिणाम-स्वरूप ही होगी। जैसे कोई सोचे कि जीवन में परिग्रह जितना कम होगा, उतनी ही सरलता होगी, तो उसकी विचार-सरणी भूल भरी है। सत्य इसके ठीक विपरीत है। भीतर जितनी सरलता होती है, बाहर परिग्रह उतना ही कम होता जाता है। अपरिग्रह परिग्रह को छोड़कर नहीं, सरलता को पाकर उपलब्ध होता है। ऐसे ही अनासक्ति आसक्ति के त्याग से नहीं, वरन् क्षुद्र से विराट् की ओर जाने से जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, उसी से फलित हो सकती है।

यह संसार यथार्थ में दुःख से पूर्ण है। मानव के भीतर भी बहुत दुःख है और उसका अन्तःलोक भी अंधकार से भरा हुआ है। इसीलिए बाहर के

छोटे-छोटे-से सुखो से वह लिपटता है। चूकि भीतर यथार्थ मे अधकार है, इसलिए बाहर के मिट्टी के दीये भी उसे मोहित कर लेते है। ये छोटे-छोटे बाहरी सुख उसके आन्तरिक दु ख को ढाक-से लेते है। तब यह स्वाभाविक ही है कि क्षणभगुर ही सही, किन्तु जो भी तथाकथित सुख बाहर का जगत् उसे दे, वह उनके प्रति आसक्ति से भर जाय। ये टिमटिमाते प्रकाश उसे सच्चा सहारा और जीवन का सच्चा अर्थ मालूम होने लगते है और इनपर जब कोई भारी दैवी प्रहार होता है, तब वह प्राय. उस स्थिति मे पहुचता है, जिस स्थिति के लिए यह कहावत प्रख्यात है कि डूबते हुए को तिनके का सहारा। वह इस दु ख-सागर मे तिनके को भी ढूढता है। उसकी दशा मूढतापूर्ण है, इसमे सदेह नही है, किन्तु स्वाभाविक भी है। ऐसे व्यक्ति पर क्रोध न आकर दया आनी चाहिए। सुना, पढा और समझा है कि यह दु ख क्षुद्र से ऊपर उठ विराट् के सम्मिलन के आत्मिक आनन्द से ही जा सकता है।

जबतक मन की यह स्थिति न आ जाय, तबतक कोई उस डूबते व्यक्ति को तिनके का भी त्याग करने को कहे तो वह कैसे करेगा ? तिनके को भी वह तभी छोड सकेगा, जब पार ले जानेवाली कोई नाव उसे मिल जाय। नाव का मिलना पहले और तिनके का त्याग बाद मे ही हो सकता है। जो ससार के सुखो और साथ ही दु खो मे तल्लीन है, उनसे, उनके त्याग के लिए कहना व्यर्थ है। ऐसा उपदेश अज्ञानपूर्ण ही कहा जायगा। ऐसे व्यक्तियो को क्षुद्र से विराट् के मार्ग मे ले जानेवाली और आन्तरिक आनन्द को प्राप्त करनेवाली विधि देनी होगी, जो त्याग के नकार मे नही, वरन् उपलब्धि के विधान मे सलग्न करे। जैसे-जैसे और जिस-जिस मात्रा मे उस आन्तरिक आनन्द की झलके उपलब्ध होगी वैसे-वैसे और उसी-उसी मात्रा मे बाहर के सुखो और दु खो पर उसकी पकड ढीली होती जायगी। मान ले कि किसी व्यक्ति को बाह्य सुखो के प्रति सौ प्रतिशत आसक्ति है, जब यदि उसे स्वय मे प्रवेश का मार्ग मिल जाय और वहा एक ही प्रतिशत आनन्द के दर्शन हो तो अनिवार्यतया ससार के प्रति उसकी आसक्ति निन्यानवे प्रतिशत रह जायगी। भीतर पचास प्रतिशत आनन्द होगा तो बाहर पचास प्रतिशत अनासक्ति। भीतर शत प्रतिशत आनन्द तो बाहर

शत प्रतिशत अनासक्ति। अन्ततः में आनन्द का अनुपात ही जीवन मे अनासक्ति का अनुपात बन जाता है।

जो तथाकथित सुख मैंने जीवन मे भोगा और इस एक वर्ष मे घोर दुःख पाया है, उसके आधार पर यह मान्यता मुझे ठीक जान पडती है कि किसी भी प्रकार का निषेध समस्या का निदान नही है। वस्तुतः जीवन की भित्ति निषेध पर खडी ही नही होती। निषेध तो मृत्यु का अन्त है। जीवन का विकास तो निरन्तर श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ को पाने की विधायक महत्वाकाक्षा से होता है। अतः त्याग की भाषा हमे रुचिकर नही होनी चाहिए। हा, हमे तो सच्चे आन्तरिक आनद की उपलब्धि, दूसरे शब्दो मे जिसे हम ईश्वर-उपलब्धि कहते है, उस कोण से इन सब समस्याओ को देखना चाहिए। त्याग की भाषा और दृष्टि अन्ततोगत्वा जीवन-निषेध की ओर ले जाती है। उसका मूल आधार ही परमात्मा और ससार के विरोध पर खड़ा होता है। परमात्मा प्रकृति के विरोध मे नही, बल्कि प्रकृति मे ही अन्तर्भूत है और उसका चरम विकास ही धर्म ने नकार का रूप लेकर अपने हाथों आत्मघात किया है। धर्म का विधायक होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए हम आसक्ति छोडने को नही, आन्तरिक आनन्द पाने को कहते है। इस आनन्द को पाते ही अनासक्ति स्वय फलित हो जाती है, जिसके हाथों मे हीरे आ गये हो, वह अपने आप ही ककडो को छोड देता है। इस प्रकार के आनन्द मे प्रतिष्ठा पाने की साधना ही सच्चा अनासक्ति योग है। ●

सच्चिदानन्द

भारत मे तात्विक विचार जिस प्रकार सूत्रो मे प्रकट किये गए है, उस प्रकार अन्य कही देखने को नही मिलते और सूत्र-रूप से विचार प्रकट करने की यह प्रणाली इतनी दूर तक चली कि न जाने कितने विषयो पर हमे ये सूत्र उपलब्ध होते है। एक ओर प्रसिद्ध आध्यात्मिक सूत्र है श्री व्यासजी के ब्रह्मसूत्र और दूसरी ओर बादरायण के काम-सूत्र। सूत्रो के इस साहित्य की बडी व्याख्या हुई है। एक-एक सूत्र पर सैकडो और हजारो पृष्ठ लिखे गये है। इन सूत्रो मे हमे जो सर्वप्रधान सूत्र जान पडता है, वह है सच्चिदानद।

जीवन को पालना एक बात है। यह जीवन तो हर चेतन प्राणी को प्राप्त रहता है और मानव को भी। परन्तु जो जीवन को पाकर जीवन को जानने की क्षमता रखता है, वह मानव ही है, अन्य कोई प्राणी नही। मानव-जीवन को पाकर उसे न जान पाये तो वह मानव सच्चा मानव नही है। अधिकाश मनुष्य जीवन को पा तो लेते है, पर उसे जान नही पाते। उनके समक्ष जीवन का यथार्थ अर्थ और अभिप्राय अप्रकट ही रह जाता है। वे जीते है, जी लेते है, किंतु मनुष्य की दृष्टि मे उन्हे सच्चे अर्थ मे जीवित भी नही कहा जा सकता। हमने सुना है कि भगवान बुद्ध के समय भिक्षुओ के वय की तबसे गणना की जाती थी जबसे वे जीवन के वास्तविक स्रोत से परिचित हो जाते थे। एक बार एक वृद्ध भिक्षु भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए गया। जब भगवान बुद्ध ने उसकी आयु पूछी, तब उसने कहा, "केवल चार वर्ष, क्योंकि शेष समय तो मैंने अधकार मे व्यर्थ ही गवाया। मै अब मानता हू कि जब जीवन को नही जानता था, तब जीवित भी नही था।" ऐसा ही महात्मा ईसा के सम्बन्ध मे भी कहा जाता है। ईसा से उनके किसी भक्त ने पूछा, "मेरे पिता की मृत्यु हो गई है, मै जाऊगा और उनकी अन्त्येष्टि कर शीघ्र ही लौट आऊगा।" ईसा ने उत्तर दिया, "मुर्दो को मुर्दो की अन्त्येष्टि करने दो।"

महात्मा ईसा का यह वचन बहुत आश्चर्यजनक जान पडता है, किन्तु यथार्थ मे बहुत अर्थपूर्ण भी है। इसी प्रकार ईसा ने एक बार यह कहा था, "मै तुम्हे तुम्हारी कब्रो से उठाने आया हू।" उस समय भी उनका सकेत इसी सत्य की ओर था कि जिसे हम जीवन मानते है, वह यथार्थ मे जीवन है ही नही। वास्तविक जीवन को जानने के लिए केवल जीवन पाना अथवा जन्म लेना ही पर्याप्त नही है। उसके लिए तो साधना कर दुबारा जन्म लेना पडता है। ऐसे द्वितीय बार जन्म लेनेवालो को ही भारतीय सस्कृति मे 'द्विज' सज्ञा दी गई है और कहा गया है—"जन्मना जायते शूद्र. सस्कारात् द्विज उच्यते।"

जो व्यक्ति धर्म-साधना से इस प्रकार के द्वितीय जन्म को उपलब्ध नही करते, उनका जीवन असत्, अचित् और निरानन्द मे व्यतीत होता है। उन्हे यह बोध ही नही हो पाता कि उनकी कोई सत्ता या सत् स्थिति है। इसी-लिए वे सदा मृत्यु से भयभीत रहते है, अपनी मृत्यु से और अपने स्वजनो की मृत्यु मे। मृत्यु का भय इस बात का सूचक है कि सत् का बोध नही हुआ। पहले स्वय के भीतर इस सत् का बोध होता है और तब अपनी और अपने स्वजनो की अथवा किसीकी भी मृत्यु का भय असम्भव हो जाता है। मृत्यु के साक्षात् पर जो अभय मे प्रतिष्ठित होता है, वही केवल जीवन को जानता है। मृत्यु को हम किस भावना से लेते है, उसमे ही प्रकट होता है कि हमने जीवन को जाना या नही, क्योकि उस तत्व की, जिसे सच्चा जीवन कहा जा सकता है, कोई मृत्यु है ही नही। जीवन और मृत्यु विरोधी सत्ताए है। जो जीवन है, उसकी कोई मृत्यु नही होती और जो मृत्यु है, उसका कोई जीवन नही। किन्तु इन दोनो के सयोग ही भवने है। उस सयोग को ही हम जीवन मान लेते है। यही भूल है। मनुष्य या अन्य कोई भी प्राणी इन दोनो धाराओ के मेल मे ही उत्पन्न होता है। उसकी देह पदार्थ मे बनी है, जो कि मृत है और उसकी आत्मा जीवन मे, जो अमृत है। इन दोनो के मिलन का परिणाम हमे जीवन जैसा भास होता है और वियोग मृत्यु जैसा, जबकि पदार्थ सदा ही मृत है और चैतन्य सदा ही जीवित है। मानव ही दोनो के भेद को जानने की क्षमता रखता है और मानवो मे, जो शरीर को स्वय का होना मान लेते है, वे ही केवल मृत्यु के भय का अनुभव करते है।

शरीर के भीतर प्रवेश कर उस सत्य को अनुभव करना, जो कि शरीर नही है, समस्त धर्म-साधनाओ का लक्ष्य है। इस अशरीरी चैतन्य का अनुभव उसी समय होता है, जब शरीर को और उसकी समस्त इद्रियो को मृतक की भाति निस्पन्द और निष्क्रिय छोड दिया जाय और हमारी चेतना किसी विषय को नही, वरन् मात्र स्वय को जाने। दीपक दूसरो को प्रकाश देने के पहले स्वय को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार हमारी चेतना भी दूसरो को प्रकाश देने के पहले स्वय को प्रकाशित करती है। किन्तु चित्तवृत्तियो के पूर्ण निरोध पर ही उसे इस स्वय प्रकाश-कर्त्ता का अनुभव हो पाता है। इस अनुभव का प्रथम बोध सत् यानी अपनी सत्ता (एग्जिस्टेंस) ज्ञात होता है कि मेरी सत्ता है। सत्ता सदा ही अमृत है। परिणामत मृत्यु-भय विलीन हो जाता है। दूसरा बोध होता है चित् (कान्शसनैस) का, मै केवल हू ही नही, चेतन भी हू, क्योकि यदि मै चेतन नही तो मुझे सत्ता का भी बोध नही हो सकता था। सत्ता का बोध ही चित् है। सत्ता एव सत् तथा चित् का, दूसरे शब्दो मे सत्ता और चैतन्य का मिलन ही आनन्द (ब्लिस) बन जाता है। यही भय दु ख है कि मै और मेरे स्वजन मिट सकते हैं। यह अभय आनन्द बन जाता है कि यथार्थ मे किसीके मिटने की कोई सम्भावना ही नही है। यही चिन्ता दु ख है कि मैं अथवा मेरे समीपवर्ती जड हो सकते है और यह निश्चय कि यथार्थ मे सबकुछ परम् चैतन्य है, आनन्द बन जाता है। अमृत सत्ता एव पूर्ण चेतना की अनुभूति ही आनन्द को जन्म देती है। सच्चिदानन्द के इस छोटे-से सूत्र मे इसी परम् सत्य को प्रकट किया गया है। यह अनुभूति शब्दो मे प्रकट नही की जा सकती। इस सूत्र से अधिक बहुमूल्य और सारगर्भित और कोई सूत्र नही है। आध्यात्मिक रसायन का समस्त सार इस सूत्र मे अन्तरगर्भित है। इसलिए हमारे मनीषियो ने इसे परमात्मा का नाम भी मान लिया है। जो सच्चिदानन्द मे प्रतिष्ठित हो जाते है, उन्हे परमात्मा की उपलब्धि हो जाती है। ●

चरित्र-विकास की आधार-शिला

अंग्रेजी मे एक प्रचलित उक्ति है

"यदि धन गया तो कुछ नही गया। यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, यदि चरित्र गया तो सबकुछ गया।" इस उक्ति के अनुसार धन का जाना इसलिए कुछ नही माना जाता, क्योंकि वह सहज ही पुनः उपार्जित किया जा सकता है। स्वास्थ्य का जाना इसलिए कुछ जाना समझा जाता है कि उसकी पुनः उपलब्धि सहज ही नही हो सकती। पर चरित्र का जाना, सब-कुछ जाना इसलिए है, क्योंकि खोया हुआ चरित्र पुनः पाना अति दुर्लभ है।

हमारी इस सदी को बहुत-से नाम दिये गए है, किंतु बाद के इतिहास-कार इसे मानवीय चरित्र के ह्रास की ही सदी कहेंगे। व्यष्टि और समष्टि ने इस काल मे जिस प्रकार चरित्र को खोया है, इसके पूर्व शायद कभी नहीं खोया था।

वाष्प-शक्ति की उपलब्धि के पश्चात् नाना प्रकार की कलें ईजाद हुई। कितने प्रकार का और कोटि-कोटि का आधिभौतिक उत्पादन बढ़ा। खाना-पीना और मौज मे रहना जीवन का आदर्श बन गया। जिन राष्ट्रों और व्यक्तियो के पास अधिक-से-अधिक आधिभौतिक साधन और आधिभौतिक शक्ति है, वे राष्ट्र और व्यक्ति ही सबसे अधिक उन्नत माने जाने लगे। ये उपलब्धिया ही विकास का मानदण्ड हो गई। परंतु अन्ततः मनुष्य पदार्थ के जगत् मे जो प्राप्त करता है, उन उपलब्धियो का मूल्य क्या होता है, इसका पता भी हमे इस समय के संघर्ष कलह, विप्लव और युद्धों से लगता है। अत मनुष्य मे जो मानवीय चेतना है, उसके विकास के बिना ये आधि-भौतिक उपलब्धिया नाश का आयोजन भी बन जाती है। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए, तो हमें जान पड़ेगा कि हम बहुत दरिद्र हो गये है।

मानवीय चेतना ने हमारे द्वारा जीवन और चरित्र के कोई नये शिखर उपलब्ध नही किये है। इतना ही नही, इसके विपरीत मानव जिन सीढियो को उपलब्ध कर चुका था, उन्हे भी हमने खो दिया है। इस तल पर विकास नही, ह्रास ही हुआ है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो अतीत स्वर्णिम मालूम होता है और भविष्य अधकाराच्छन्न। इस दुखद तथ्य के जो कारण है, वे अत्यधिक विचारणीय है, क्योकि उनके विचार और निराकरण से ही मनुष्य के भग्नमदिर की आधार-शिला पुन रखी जा सकती है।

इस चरित्र-ह्रास के आधारभूत कारणो मे सबसे प्रधान कारण यह है कि हमने सभी प्रकार के जीवन-दर्शन को बिलकुल ही खो दिया है। प्राचीन काल मे ऐसा मनुष्य खोजना कठिन था, जिसका कोई-न-कोई जीवन-दर्शन न हो। आज ऐसा मनुष्य खोजना क्रमश कठिन होता जा रहा है, जिसका कोई जीवन-दर्शन हो। हमारी दृष्टि ऐसी प्रतीत होती है कि हमारा जीवन ही यथेष्ट है। जीवन-दर्शन की क्या आवश्यकता ? पर स्मरण रहे कि मनुष्य के लिए केवल जी लेना ही काफी नही हो सकता। जब भी कोई युग ऐसा आगह करेगा तो तत्क्षण उस युग के मनुष्य के जीवन का तल पशुओ के निकट पहुच जायगा। यह हो सकता है कि उसका आजीविका का तल उन्नत होता जाय, जैसा इस काल मे हुआ भी है, और इसलिए इस युग का आदर्श हो गया है—भौतिक आवश्यकताओ को बढाते जाना। किंतु इससे जीवन-तल वास्तव मे ऊचा नही हो सकता। मनुष्य के लिए आजीविका को ही जीवन समझ लेने से बडी भूल क्या हो सकती है ? महात्मा ईसा का एक वचन स्मरणीय है—"मनुष्य केवल रोटी पर नही जी सकता।" रोटी आवश्यक है, उससे हम इन्कार नही करते। इसीलिए हम आधिभौतिक विकास के विरुद्ध नही हैं। परतु यह विकास ही जीवन का आदर्श हो जाय तो जीवन एकागी हो जाता है। अत. रोटी ही काफी नही है। मनुष्य के लिए आजीविका है, आजीविका के लिए मनुष्य नही। यह तो समझ मे आता है कि हम जीने के लिए आजीविका चाहे, लेकिन यह समझ मे नही आता कि हम आजीविका के लिए ही जीने लगे। जब कोई जीवन-दर्शन नही होता, तब वर्तमान समय के सदृश्य दुर्घटना स्वाभाविक हो जाती है। उदात्त लक्ष्यो को पाने की प्रेरणा से ही मानवीय चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है। यदि यह भी मान

लिया जाय कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता नही, तो भी उन्हें पाने की प्रेरणा मे आन्दोलित मानवीय चेतना क्रमश ऊपर उठती है, इससे इन्कार नही किया जा सकता । कोई चाहे तो इन सत्यो को स्वप्न कह सकता है, किंतु दिव्यता के स्वप्न भी मनुष्य को पशुता से उठाने मे समर्थ होते हैं । जीवन-दर्शन के अभाव ने मनुष्य से उदात्त स्वप्न छीन लिये है, जिसका यह अपरिहार्य परिणाम हुआ है कि उसके ऊर्ध्वगमन के सब द्वार बंद हो गये । जब कोई शक्ति आरोहण नही कर पाती, तब पतन आरंभ हो जाता है । सागर की जो लहर ऊपर उठना बंद कर देती है, वह अनिवार्यत: नीचे बहने लगती है । जो सरिता सिंधु की ओर जाना भूल जाती है, उसका प्रभाव कुंठित होकर डबरो मे परिणत हो जाना स्वाभाविक ही है ।

हमारी दृष्टि मे मनुष्य को दिव्यता के स्वप्न पुन. देना आवश्यक हो गया है । हम तो उन स्वप्नो को वास्तविक सत्यो से भी अधिक सत्य मानते हैं, क्योंकि वे मानवीय चेतना मे अद्भुत परिवर्तन करने में समर्थ हैं, और परिवर्तन केवल वही कर सकता है, जो सत्य हो, यह दूसरी बात है कि हमारे चर्म-चक्षु उसे अनुभव न कर पाते हो । विज्ञान भी ऐसे सत्यो को स्वीकार करता है । परमाणु के अंतिम विभाजन से उपलब्ध विद्युत्कण (एलैक्ट्रोन) दृष्टिगोचर नही होते है, मात्र उनके परिणाम परिलक्षित होते है । इसी कारण उनकी सत्ता स्वीकृत है । परमात्म-शक्तियां तो और अधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । पर उनके लिए पिपासित चेतना मे जो क्रांति घटित होती है, उसे तो अन्धे-से-अन्धा व्यक्ति भी अनुभव कर सकता है । बुद्ध, महावीर, ईसा, लाओत्से आदि मे जिस दिव्य ऊर्जा का आविर्भाव हुआ, वह क्या हमे दिखाई नही पडती ? ये व्यक्ति सामान्य मनुष्य नही रह गये थे । उनके भीतर कोई क्रांति घटित हुई थी और उसके परिणाम उनके चरित्र एवं उनके जीवन मे भी प्रकट हुए । इसे तो कोई भी अस्वीकार नही कर सकता कि उनमे हमें साधारण मनुष्य से किसी ऊपर की सत्ता के दर्शन होते है । जीवन को और जीवन की समस्त शक्तियों को जबतक किसी उदात्त उद्देश्य के प्रति समर्पित नही किया जाता, तबतक मानव की प्रसुप्त शक्तियां जगती ही नही है और न उनके जीवन मे आरोहण का आरंभ होता है । इसलिए

मनुष्य के पुन निर्माण के निमित्त हमारा यही नारा है कि उसे कोई उदात्त जीवन-दर्शन दिया जाय। केवल जीवन यथेष्ट नहीं, जीवन-दर्शन भी आवश्यक है। जीवन-दर्शन के प्रकाश में ही जीवन का सच्चा रहस्य प्रकट होता है। ●

जीवन और साधना

इस सृष्टि मे सभी कुछ परिवर्तनशील है। कविवर सुमित्रानन्दन पत ने अपनी एक कविता मे लिखा है :

"पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।"

उन्होने यह विचार किसी भी प्रसग मे व्यक्त किया हो, पर हर क्षण सबकुछ परिवर्तित होता जाता है। जड या चेतन जिस रूप मे उत्पन्न होता है उस रूप मे वह नही रहता और उसका उत्पत्तिवाला रूप भी सदा परिवर्तित होता रहता है।

हजरत मूसा के सम्बन्ध मे एक कहानी है। राजा को हजरत मूसा का एक चित्र भेंट किया गया। राजा के दरबार में मुखाकृति विज्ञान को जानने वाले कुछ विशेषज्ञ थे। राजा ने वह चित्र उन विशेषज्ञों को अध्ययन के लिए दिया। उन्होंने उसे देखकर कहा, "यह किसी बहुत ही बुरे व्यक्ति का चित्र है। यह व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी है, अत्यन्त कामी है और अत्यन्त क्रूर है।" राजा आश्चर्यचकित रह गया, क्योंकि वह हजरत मूसा को भलीभांति जानता था और उसके अनुसार मूसा से अधिक पवित्र और सन्त व्यक्ति खोजना कठिन था। वह मूसा के दर्शन के लिए गया। उनके चरणों में गिर कर उसने अपने विशेषज्ञों की बात कही और बोला, "निश्चय ही मुखाकृति-विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। अतः यह अच्छा ही हुआ कि उनके प्रसग को लेकर मेरी आंखें खुल गईं।" हजरत मूसा राजा की यह बात सुनकर हँसने लगे और बोले, "तुम्हारे विशेषज्ञ ठीक कहते हैं। जो-जो बातें उन्हें मेरे चित्र में दिखाई दीं, वे सब मुझमे पहले थीं। दुर्भावनाएं तो चली गईं, किन्तु उनके चिह्न चेहरे पर रह गये हैं।"

यह कहानी इस तथ्य की गवाही है कि प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के अनुसार मनुष्य भी जैसा अपनेको पाता है, उससे भिन्न हो जाता है।

विप को भी अमृत में परिवर्तित करने के उपाय है । वे ही शक्तिया जो अशुभ प्रतीत होती है, शुभ जीवन के आधार भी बन जाती है। लोहा स्वर्ण मे परिवर्त्तित करने का एक कीमिया है । वह हो, चाहे न हो, किन्तु पुराने समय के लोग लोहे को सोने मे बदलने का रसायन खोजते थे । पारस पत्थर की खोज भी शायद उतनी ही पुरानी है, जितना मनुष्य । पारस पत्थर (अलकैमी) की खोज प्रतीक रूप है । उनके भीतर हम मनुष्य मे परिवर्तन के ही मार्ग खोजते रहे है । मनुष्य मे ऐसा बहुत-कुछ है, जिसे लोहा कहा जा सकता है । उस सबको स्वर्ण मे परिवर्तित किया जा सकता है, और यह हो सकता है साधना से ।

मनुष्य के प्रकृत रूप मे यदि हम प्रवेश करे तो वहा लोहे के सदृश्य ही बहुत-कुछ उपलब्ध होगा । केवल वासनाए ही पकड मे आवेगी । काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद के ही दर्शन होगे । निष्कर्ष यही निकलेगा कि मनुष्य भी एक प्रकार का पशु है । डार्विन ने मनुष्य की देह के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि उसकी उत्पत्ति पशुओ से हुई है । फ्रायड ने उसके मन के अध्ययन से यह निष्पत्ति दी की वह निपट पशु ही है । डार्विन तथा फ्रायड ने मनुष्य की महिमा के सारे स्वप्न छीन लिये । इस सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना को उन्होने कोई विशेपता नही दी और शेप प्रकृति के साथ समान तल पर मानव को भी खडा कर दिया । आधुनिक काल की यह सबसे बडी मौलिक खोज कही जाती है । यह तथाकथित मौलिक और महान् खोज ही मानवीय चेतना के विकास की मृत्यु बन गई । इस खोज के आघात ने मनुष्य को हतप्रभ कर दिया । प्रकृति का परिवर्तन नियम देखते हुए भी वह जहा था और जैसा था वैसा ही खडा रह गया । स्वय के ऊपर उठ सकना मनुष्य को असम्भव दिखाई पडने लगा । वासनाओ और जन्मजात प्रवृत्तियां (इस्टिक्ट्स) के अतिक्रमण का कोई प्रश्न ही नही रहा । वह उनमे ही जीता है और उनमे ही मर जाता है, यही उसका विश्वास हो गया । उनके वृत्त मे घूमते रहने का नाम ही जीवन है, यह उसे भासने लगा । वासनावृत्तिया वृत्ताकार होती है । इसीलिए उनको वृत्तिया कहते है । उनमे कोल्हू के बैल की भाति घूमते रहिये । घूमना तो बहुत होगा, किन्तु पहुचेगे कही नही ।

मैं निरर्थक वृत्ताकार परिभ्रमण को तोड़ने का नाम साधना है। काम की वृत्ति के अतिक्रमण से ब्रह्मचर्य उपलब्ध होता है। क्रोध की वृत्ति के अतिक्रमण से शान्ति और क्षमा उपलब्ध होती है। लोभ की वृत्ति के अतिक्रमण मे अपरिग्रह उपलब्ध होता है। मोह की वृत्ति के अतिक्रमण मे चेतना उपलब्ध होती है और मद की वृत्ति के अतिक्रमण से अमूर्च्छा (अहशून्यता) उपलब्ध होती है। साधना मनुष्य के भीतर उसकी शक्तियों के अशुभ की ओर के प्रभाव से शुभ की ओर परिवर्तन है। शक्तियां न तो शुभ हैं, न अशुभ है। शक्तिया तो सदा तटस्थ होती है। उन्हे हम किस दिशा मे सलग्न करते है, उससे ही उनका शुभ या अशुभ होना निर्णीत होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि से जो शक्तिया प्रकट होती है, वही उनके प्रकट होने का अकेला मार्ग नही है। उन्ही शक्तियो का मार्ग-परिवर्तन हो तो ठीक उनके विपरीत मार्गो से भी अभिव्यक्त हो सकता है। प्रकृति-जगत मे तो हम पदार्थ की शक्तियो का ऐसा परिवर्तन सीख गये हैं। मनुष्य की अन्तस् शक्तियो के सम्बन्ध मे न मालूम क्यो, हम हठाग्रही है और जिस अनुसधान का परिचय विज्ञान ने हमे दिया है, उसका ही परिचय धर्म के सम्बन्ध मे हम नही दे पा रहे हैं। इसका मूल कारण शायद यह है कि पदार्थो की शक्तियो का परिवर्तन वृत्तियो के भोग के लिए सहयोगी है, जबकि स्वय इन्द्रियो की शक्तियो का परिवर्तन तपश्चर्या चाहता है। इन्द्रियो के जो सुख है वे आरम्भ मे सुख और अन्त मे दु ख हो जाते है। आत्मा का जो आनन्द है वह आरभ मे दु ख जैसा भासता है, किन्तु अन्त मे आनन्द मे परिणत हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय मे अपने उपदेश का जो उपसहार किया है, उसमे सात्विक, राजस् और तामस सुखो का सुन्दर वर्णन है। सात्विक सुखो के सम्बन्ध में वह कहते है :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुख सात्त्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

—वह सुख प्रथम साधन के आरम्भ काल मे यद्यपि विष के सदृश भासता है, परन्तु परिणाम मे अमृत के तुल्य है। इसीलिए जो भगवत्-विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है, उसे सात्विक कहा गया है।

रजोगुणी सुख के लिए भगवान् कहते है

विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजस स्मृतम् ।।

—जो सुख विषय और इन्द्रियो के सयोग से होता है वह यद्यपि भोग-काल मे अमृत के सदृश्य भासता है, तथापि परिणाम मे विष के सदृश्य है। इसलिए उस सुख को राजस कहा गया है।

तमोगुणी सुख के लिए भगवान ने कहा है

यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम् ।।

—जो सुख भोग-काल मे और परिणाम मे भी आत्मा को मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

सात्विक सुख, जो प्रारम्भ मे दु ख भासता है, उसका स्वीकार करना ही तप है। इस दु ख की स्वीकृति से बचने के लिए ही जो विवेक, जो खोज, जो श्रम, हम पदार्थो की शक्तियो के लिए दिखा पा रहे है, उसका ही आत्म-शक्तियो की दिशा मे अभाव मालूम पडता है। फिर आलस्यवश प्रमाद के वशीभूत हो शुभ की ओर हमारा जो विकास नही हो रहा है उसकी आत्मग्लानि से बचने के लिए हम यह सिद्ध करने मे सलग्न हो गये है कि मनुष्य यथार्थ मे पशु है और पशुता से ऊपर उठने का उसके पास कोई उपाय नही है, न कोई सम्भावना ही है।

साधना का प्रारम्भ इस सत्य की स्वीकृति से होता है कि मनुष्य जैसा है, उससे श्रेष्ठ हो सकता है। वह अपूर्ण है, उसके पूर्ण होने की सम्भावना है। वह अशुभ है, किन्तु शुभ होने के बीज उसमे छिपे है। वह पशु है, लेकिन पशु ही सदा बने रहने को आवद्ध नही है। उसकी पशुता दिव्यता मे परिणत हो सकती है। उसके भीतर का कीचड कमल बन सकता है। इस सत्य की स्वीकृति मात्र भी मनुष्य के भीतर चेतना का आरोहण का प्रारभ बन जाती है। जीवन उपलब्ध नही है, मात्र उसकी सभावना उपलब्ध है। उस सम्भा-वना को सत्य मे परिणत करना हमारे हाथो मे है और उसे खो देना भी।

की सम्भावनाओं को वास्तविक बना लेते है और स्वय के भीतर प्रच्छन्न सोयी ऊर्जाओं को जागृत कर सत्य, शिव और सुन्दर की ओर प्रवाहित कर देते है, केवल वे ही जीवन की कृतार्थता और धन्यता को अनुभव कर पाते हैं। ●

३१

ज्ञान और ज्ञान का बोझ

निसर्ग ने मानव को जिस ज्ञान-शक्ति को देकर उसे सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया है, वही ज्ञानशक्ति उसकी मानसिक अशान्ति का भी सबसे बडा कारण है। मानव को छोडकर अन्य जीवधारी आहार, निद्रा और मैथुन से ही तृप्त रहते ह, फिर निद्रा और मैथुन उन्हे आह्लाद देता है। उन्हे यदि चिन्ता रहती है तो वह केवल आहार की और उस चिन्ता से उनकी शीघ्र निवृत्ति भी हो जाती है। परन्तु मनुष्य का जीवन उसकी मेधा और प्रज्ञा के कारण चिन्ताओ और समस्याओ से घिरा रहता है। मनुष्य पर अगणित तनाव हे, उसकी अगणित उलझने हे। उसके चित्त को न शान्ति है, न कार्य से विराम। जागते हुए ही वह अशान्त नही रहता, शयन मे भी उसका मन सतत् चिन्ता करता रहता है और न जाने वह कितने प्रकार का स्वप्न देखा करता हैं। अन्य प्राणी स्वप्न देखते है या नही, हम नही जानते, परन्तु जिस प्रकार वे सोते हे, उसमे भान होता है कि वे शायद स्वप्न भी नही देखते। मनुष्य का शरीर निद्रा मे चाहे विश्राम कर भी ले, पर उसके मन की विश्रान्ति असम्भव है। ज्ञान-शक्ति के कारण जो मनुष्य सबसे ऊची रचना हे, उसी ज्ञान-शक्ति ने जीवन पर घातक दुष्परिणाम लाये है। मनुष्य का मन प्राय अस्वस्थ ही रहता है और चिन्ता के अतिभार के कारण अधिकाश मानवो की प्रज्ञा भी क्षीण एव धूमिल रहती है। ज्यादातर मनुष्य सोचते तो बहुत हे, किन्तु यथार्थ मे कुछ सोच नही पाते। उन्हे चिन्ता तो बहुत रहती हे, किन्तु निष्पत्तिया बहुत कम। मन की इस रुग्ण दशा मे, जिसे हम ज्ञान कहते है, वह और भी बोझ की भाति उसके सिर पर जमा रहता है। मनुष्य कब उत्पन्न हुआ, यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता। परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीता है, उसके शास्त्र बढते गये है। शब्द-जाल फैलता गया है। विचारो के प्रतिपादन की गति तीव्र होती गई है और

सिद्धान्तो के जन्म पर कोई विरोध न होने के कारण वे सिद्धान्त बढ़ते गये है, साथ-ही इन सिद्धान्तो मे सघर्ष बढा है। वाद और उनके प्रतिवाद विकराल रूप मे खडे हुए है। चाहे समाज हो, चाहे अर्थ, चाहे राजनीति हो, चाहे धर्म, सब ओर यही स्थिति है। विचारो की इस वर्षा ने कीचड मचा दिया है। वादो, शास्त्रो और सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन ने ऐसा धुआ उत्पन्न किया है, कि आखे थोडी भी दूर देखने मे असमर्थ हो गई है। हम किंकर्त्तव्यविमूढ रूप मे खडे हुए है, न कोई मार्ग दीखता है और न कोई दिशा ही दीखती है। एक ओर जीवन को चलाने की रोजमर्रा की भौतिक चिन्ताए है और उनका बोझ और दूसरी ओर जीवन-सत्य के सबध मे विरोधी विचारो और शास्त्रों का भार इतना अधिक हो गया है कि मनुष्य उस भार के नीचे लगभग टूट ही गया है।

जबतक मानव का भौतिक शरीर है तबतक उसे जीवन-यापन के लिए भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रयास तो करना ही होगा। परन्तु जीवन सत्य के सबध मे प्रतिपादित तथाकथित सिद्धान्तो से उसे और बोझिल बनाने की कोई आवश्यकता नही है। चूकि अपनी मेधा और प्रज्ञा-शक्ति के कारण उसका मन केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट नही रह सकता, इसलिए वह परवश जीवन सत्य की खोज भी करने लगता है और विभिन्न शास्त्र, सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त इस खोज को सुलझाने के स्थान पर और उलझा देते है। ससार मे जीवन-यापन के लिए भौतिक भार ही यथेष्ट है। जीवन-सत्य की खोज मे और भी भारी बोझ हम अपने हाथो अपनी छाती पर रख लेते है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-सत्य की यह खोज शान्ति देकर हमारे भौतिक भार का घटा दे। चिन्ताओ की आधियो से विक्षुब्ध चित्त रूपी झील को शान्त करने की विधि दे। चिन्ता के तनाव को विराम और विश्रान्ति की औषध दे। मनुष्य की नैसर्गिक ज्ञानशक्ति को उसे चिन्ता के जगत् मे शान्त रहने की शक्ति देनी चाहिए। जो भी व्यक्ति निश्चिन्तता की विश्रान्त मानसिक दशा को उपलब्ध करता है, वह न केवल शान्त हो जाता है और जीवन-यापन की भौतिक चिन्ताए भी उसे अशान्त नही कर पाती, वरन् सत्य को अवलोकन करने के उसके अन्त:चक्षु भी खुल जाते है। सत्य का वास्तविक ज्ञान यही

बाहर से नही सीखना होता और न जीवन के रहस्य से परिचित होने के लिए कही शास्त्रो और सम्प्रदायो की शरण जाने की आवश्यकता पडती है । सत्य तो यथार्थ मे स्वय की सत्ता मे छिपा हुआ है । जीवन-रहस्य के उद्घाटन की कुजी प्रत्येक के भीतर है, किन्तु हम उस भिखारी की भाति है, जो सम्पूर्ण जीवन एक ही स्थान पर बैठकर भीख मागता रहा और स्वप्न देखता रहा धनपति होने का और जब मरा तो खुद के कफन जुटाने के भी पैसे नही थे । उसके मरने पर लोगो ने जब उसके झोपडे को तोडा तथा वहा की सफाई की तो वे आश्चर्य चकित हो गये, यह देखकर कि जिस स्थान पर बैठकर वह भिखमगा जीवन भर भीख मागता रहा, उसके ठीक नीचे अरबो का खजाना गडा है । जीवन-सत्य का कोष प्रत्येक के भीतर है और भूल यही हो जाती है कि हम स्वय को छोड इस कोष को सारे जगत् मे खोजते है । इस सत्य के सम्बन्ध में विचारो, वादो, शास्त्रो और सम्प्रदायो की कोई आवश्यकता नही । आवश्यकता है स्वय मे प्रवेश की । स्वय मे प्रवेश से जो ज्ञान आविष्कृत होता है, वह मुक्तिदायी है, जो बाहर से सग्रह कर लिया जाता है, वह ज्ञान बोझ के अतिरिक्त और कुछ नही है ।

हम मनुष्य को सब सिद्धान्तो और सम्प्रदाओ से तथा सब पक्षो और सब पन्थो से मुक्त हुआ देखना चाहते है । ये दीवारे जितनी ही गिर जायगी, उतना ही उसके हृदय का आगन सत्य-रूपी सूर्य के प्रकाश को पाने के लिए उन्मुक्त हो जायगा । जितने ही उसके पूर्वपक्ष बद्धमूल और धारणाए भस्मीभूत हो जायगी, उतने ही उसके चित्त के झरोखे स्वच्छ हवाओ को अपना अतिथि बना सकेगे । चित्त शान्त हो और तथाकथित ज्ञान के भार से मुक्ति, तभी उस ज्ञान का जन्म होता है, जो मुक्त करता है और परमात्मा के प्रकाश मे प्रतिष्ठा देता है । मनुष्य को निसर्ग से जो ज्ञानशक्ति मिली है, वह ज्ञानशक्ति उसकी शान्ति का कारण बन सकती है । भौतिक जीवन-सघर्ष भी तब उसे विचलित नही कर सकता । ●

पूर्णता की खोज

मनुष्य इस सृष्टि में सबसे ऊंचा क्यों है ? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि जहा अन्य प्राणियों के मन की दौड़ आहार, निद्रा और मैथुन तक ही समाप्त हो जाती है, वहा मनुष्य के अन्तस मे इन तीन बातो के अतिरिक्त कुछ अन्य रूप मे, कुछ क्षुधाओं, कुछ वासनाओं और कुछ ऐषणाओं का समूह रहता है। दूसरे, इन प्यासो, इन क्षुधाओं, इन वासनाओं और इन ऐषणाओं से उठकर मनुष्य कुछ और भी चाहता है। वह चाह है पूर्णता की खोज की। आधुनिक काल के मानस तत्ववेत्ता इन प्यासों, क्षुधाओं, वासनाओं और ऐषणाओं के संग्रह का ही मनुष्य मानते हैं। इनके अतिरिक्त और इनके ऊपर उन्हे मानव मे अन्य कुछ दिखाई नही पडता। किन्तु धर्म इन मानस तत्ववेत्ताओं से सहमत नही है। धर्म की अन्तर्दृष्टि ने मनुष्य के अंतस मे इससे कही अधिक गहरे मे प्रवेश कर उसके अंतस मे जो पूर्णता की खोज की भावना है, उसका पता लगाया है। हमने देखा है कि यदि मनुष्य की ये समस्त वासनाएं तृप्त भी कर दी जाय तो भी उसकी सच्ची तृप्ति नही होती। मनुष्य की यदि कोई भी भौतिक कष्ट और असुविधाएं न रह जाय तो भी उसके दुःख का अन्त नही होता। उसकी कामनाएं जो भी भौतिक वस्तुएं चाहती हैं वे सब भी उसे मिल जाय तो भी वह सन्तोष का अनुभव नही करता। उसकी समस्त कामनाओं के पीछे एक महत् कामना और छिपी है। उसकी सारी क्षुधाओं के पीछे एक चरम क्षुधा का और भी आवास है, वह है उसकी पूर्ण होने की अभीप्सा। ईश्वर के समान हुए बिना उसकी सच्ची परितृप्ति नही होती। ईश्वर होकर ही वह पूर्ण काम हो पाता है। ससार मे जिस अमरीका में भौतिक विकास चरम सीमा पर पहुंचा है वहां के लोगों की यह आकांक्षा कितनी दूर तक बढ़ी हुई है, वह मैंने स्वयं अमरीका मे देखा है। अनेक शताब्दियां बीत जाने पर भी अमरीका-निवासी

स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के अमरीका के प्रवासो के वृत्तान्तो को पढते हैं और फिर से ऐसे व्यक्तित्व वहा पहुचे, इसके लिए आतुर है।

पूर्णता प्राप्त करने के लिए मानव के अतस मे यह अभीप्सा क्यो है ? इसीलिए कि उसकी मेधा और प्रज्ञा इस अपूर्णता के कारण उसे दु ख देती है। अपूर्णता मे सीमा है। जबतक अपूर्णता है तबतक बन्धन का बोध होता है। इस अपूर्णता के कारण ऐसी दिशाए रह जाती है, जिनमे मनुष्य गतिशील नही हो पाता। इस असमर्थता और असफलता से उसके अन्तस मे विषाद की उत्पत्ति होती है। जबतक पूर्णता न मिले तबतक सच्ची स्वतत्रता असभव है। पूर्णता ही सच्ची स्वतत्रता देती है। इसलिए ही हमने मानव के जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने हैं, उनमे मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ है। मोक्ष की खोज पूर्णताकी ही खोज है।

इस दृष्टि से देखने पर सबसे पहले मनुष्य की अपूर्णता कहा है, यह समझ लेना आवश्यक है, क्योकि उसकी अपूर्णता के जो मूलभूत कारण हैं, उनके हटाने से ही उसे पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जैसे मिट्टी के घडे मे आकाश बन्द हो जाता है, वैसे ही मनुष्य के घट रूपी स्वरूप मे वह आबद्ध है, जो पूर्ण है। मिट्टी के घडे को तोड दिया जाय तो उसके भीतर का आकाश बाहर के आकाश से मिल जाता है। वैसे ही मनुष्य की चेतना पर जो आवरण हैं, उन्हे हटा दे, उनका विसर्जन कर दे तो वह भी पूर्णता मे प्रतिष्ठित हो जाती है। इस सम्बन्ध मे घट और आकाश की यह बडी पुरानी उपमा है और यह भी इस विषय को पूर्ण रूप से नही समझाती, फिर भी इसे थोडा-बहुत समझने के लिए भी यह पुरानी उपमा सबसे अच्छी व्याख्या मानी जा सकती है। पूर्णता की खोज मूलत अपूर्णता को हटाने के लिए साधना है। मोक्ष का अनुसधान बन्धनो को तोडने का उपक्रम है। पूर्णता के आरोहण के लिए अपूर्णता पर आक्रमण आवश्यक है।

मनुष्य के चित्त की सीमाए क्या हैं ? कौन से बन्धन हैं, जो उसे बाधे हुए है ? प्रधान रूप से ये बन्धन दो है। वासना और विचार। जबतक हम कुछ चाहते हैं तबतक वह चाह हमारी सीमा बनी रहती है और जबतक हम सोचते हैं तबतक विचार हमारा घेरा बना रहता है। यदि कुछ गहरे जाकर देखें तो स्पष्ट जान पडेगा कि वासना ही विचार को जन्म देती है। इन दोनो की

संभूत अन्योन्याश्रित है। एक होगा तो दूसरा भी होगा। वासना के बिना विचार संभव नहीं और विचार न हो तो वासना भी विलीन हो जायगी। मनुष्य की इस सीमा पर इन दोनो द्वारो से ही आक्रमण हो सकता है, या तो वासना शून्य कर दी जाय तो अपूर्णता गिर जाती है या विचार का त्याग कर दिया जाय और निर्विचार की प्रतिष्ठा हो जाय तो चेतना के बन्धन गिर जाते है। सफलता के लिए दोनो ही द्वारो से एक साथ आक्रमण करना होगा। वासना का विसर्जन और विचार का त्याग सयुक्त रूप से साधने होगे। वासना न हो एव विचार न हो तो चेतना स्वय अकेली रह जाती है। इस स्थिति मे मिट्टी का घडा टूट जाता है और चिन्मय आकाश मे चेतना का मिलन हो जाता है। यही समाधि है। इस अवस्था से ही 'अह ब्रह्मास्मि' की अनुभूति का जन्म होता है। 'अह ब्रह्मास्मि' की यह अनुभूति 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम वही हो, जो मै' इस अनुभूति को उत्पन्न करना है और फिर 'सर्व-खल्विद ब्रह्म' की अनुभूति होती है, जहा पूर्णता को प्राप्त कर मनुष्य अपने मे और सृष्टि मे अभेद पाता है।

चेतना की पूर्णता के इस आरोहण मे जो-जो विकार, बाधाए उत्पन्न हो, वे ही यथार्थ मे पाप है। पाप का अर्थ है पूर्णता के मार्ग मे अवरोध। पाप के विपरीत ही पुण्य है। पाप निर्बलता है, पुण्य शक्ति है। जो जितना पाप मे गिरता है, वह उतना ही पूर्णता से दूर हो जाता है, यही दुख है। जो जितना पापो को दूर हटा देता है, वह उतना ही पूर्णता के निकट आने लगता है। पूर्णता का यह सान्निध्य ही आनन्द बन जाता है। जीवन को क्रमश: दुख से आनन्द की ओर और पाप से पुण्य की ओर चलना है।

पूर्णता की यह खोज मनुष्य पर ऊपर से आरोपित नही है। यह उनमें वैसे ही प्रसुप्त है, जैसे बीज मे अकुर छिपा हुआ होता है। बीज को टूटकर अकुर बनना होता है। मिट्टी की परतो को दूर हटाने का श्रम करना पडता है और ज्ञात-भूमि के अधकार को छोडकर अज्ञात लोक मे प्रवेश करने के लिए साहस करना होता है। मानवीय चेतना को भी ईश्वर के होने का और कोई प्रमाण नही मिलता, सिवा इसके कि मानवात्मा मे ईश्वर होने की अभीप्सा है। यह अभीप्सा उसके स्वरूप का ही भाग है, कोई सस्कार या शिक्षा नही। इसीलिए धर्म शाश्वत् है, क्योंकि मानव के भीतर पूर्ण होने की अभीप्सा शाश्वत है।